आर्य कुमार निबन्ध-माला

लेखक

धर्मदेव विद्यावाचस्पति

स० मन्त्री, सार्वदेशिक सभा, दिल्ली

प्रकाशक

राजपाल एण्ड सन्ज़

नई सड़क : दिल्ली

॥ ओ३म् ॥

आर्य-धर्म निबन्धमाला

लेखक

धर्मदेव विद्यावाचस्पति

स० मन्त्री, सार्वदेशिक सभा, दिल्ली

प्रकाशक

राजपाल एण्ड सन्ज़

नई सड़क : दिल्ली

प्रथम संस्करण

मूल्य एक रुपया

विषय-सूची

युगान्तर प्रेस, मोरी गेट, देहली में मुद्रित।

भूमिका

भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषत् सिद्धान्तसरोज, सिद्धान्त-रत्न, सिद्धान्त-भास्कर और सिद्धान्तशास्त्री आदि परीक्षाओं का आयोजन करके आर्यकुमारों और कुमारियों तथा युवक-युवतियों में धार्मिक जागृति उत्पन्न करने का प्रशंसनीय प्रयत्न कर रही है। इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता।

इस आर्यकुमार-जागृति-आन्दोलन को मैं आर्यसमाज की उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य समझता हूं। सिद्धान्त-भास्कर और सिद्धान्त-शास्त्री परीक्षाओं के पाठ-क्रम में धार्मिक, सामाजिक विषयों पर निबन्ध भी रखे हुए हैं। श्री विश्वनाथजी एम० ए० सुपुत्र धर्मवीर श्री म० राज-पाल जी, श्री देवव्रतजी धर्मेन्दु तथा अन्य अनेक महानुभावों ने मेरे सम्मुख यह विचार रक्खा कि यदि ऐसी एक पुस्तक तय्यार की जाए जो युवकों, विशेषतः आर्यकुमारों को सारगर्भित निबन्ध लिखने और उत्तम भाषण देने में विशेष सहायता दे सके तो यह एक बड़ा उपयोगी कार्य होगा। ऐसी एक पुस्तक की आवश्यकता चिरकाल से अनुभव की जा रही है। अतः मैंने लगभग २० उप-योगी विषयों की सूची बनाकर उन पर निबन्ध लिखने प्रारम्भ किये, किन्तु आजकल कागज़ की दुर्लभता तथा मूल्य-वृद्धि आदि के कारण उनमें से केवल आठ को ही प्रस्तुत प्रकाशन में स्थान

दिया जा सका है। ये निबन्ध केवल आर्यकुमारों के लिए नहीं, अन्य सब विचारशील लेखकों और वक्ताओं के लिये भी उपयोगी सिद्ध होंगे, ऐसी आशा की जाती है। यदि पाठकों ने इन्हें उपयोगी पाया तो प्रकाशकों का शेष निबन्धों को भी, जिनमें वैदिक धर्म और विज्ञान, वैदिक संस्कृति के मूल-तत्त्व आदि सम्मिलित हैं, शीघ्र प्रकाशित करने का विचार है।

श्री श्रद्धानन्द बलिदान भवन
देहली २१-४-१६५१ } धर्मदेव विद्यावाचस्पति

: १ :

आर्य जीवन

आर्य शब्द जिसका इस पुस्तक के नाम के साथ प्रयोग हुआ है अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और स्फूर्तिदायक शब्द है। "आर्या व्रता विसृजन्तो अधिक्षमि" ऋ. १० । ६५ । ११ इत्यादि मंत्रों में यह बताया गया है कि आर्य वे कहलाते हैं जो भूमि में सत्य, अहिंसा, पवित्रता, परोपकारादि व्रतों को विशेष-रूप से धारण करते हैं। इसीलिये वेदों के 'विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान् ।' इत्यादि मन्त्रों में मनुष्यों को आर्य और दस्यु इन विभागों में बाँटते हुए व्रतधारी अर्थात् सदाचारी धर्मात्माओं को आर्य और व्रत-रहित दुराचारी लोगों को दस्यु के नाम से पुकारा गया है। ऋषि दयानन्द जी ने यजुर्वेद ४० । ३ का भाष्य करते हुए दैत्य और आर्यों के विषय में कहा है कि :—त एव असुरा दैत्या राक्षसाः पिशाचा दुष्टा मनुष्या य आत्मन्यद् वाच्यन्यत् कर्मण्यन्यदाचरन्ति ते न कदाचिद-विद्या दुःख सागरादुत्तीर्याऽऽनन्दं प्राप्तुं शक्नुवन्ति। ये च यदात्मना तन्मनसा, यन्मनसा तद् वाचा यद् वाचा

तत्कर्मणाऽनुतिष्ठन्ति त एव देवा आर्याः सौभाग्यवन्तोऽखिल जगत् पवित्रयन्त इहामुत्रातुलं सुखमश्नुवते ॥

अर्थात् वे ही मनुष्य असुर, दैत्य, राक्षस तथा पिशाच आदि हैं जो आत्मा में और जानते वाणी से और बोलते और करते कुछ और ही हैं। वे कभी अविद्या-रूप दुःख सागर से पार हो आनन्द को नहीं प्राप्त हो सकते और जो आत्मा, मन, वाणी और कर्म से निष्कपट एक सा आचरण करते हैं वे ही देव, आर्य, सौभाग्यवान् सब जगत् को पवित्र करते हुए इस लोक और परलोक में अतुल सुख भोगते हैं।

रामायण में सर्वत्र श्रेष्ठ पुरुष के लिये आर्य और श्रेष्ठ धार्मिक स्त्री के लिये आर्या शब्द का प्रयोग किया गया है। श्रीराम के गुणों का वर्णन करते हुए बाल्मीकि के प्रश्न के उत्तर में नारद मुनि ने कहा है कि :—

आर्यः सर्वसमश्चायं, सोमवत् प्रियदर्शनः ॥

श्रीराम आर्य अर्थात् धर्मात्मा, सदाचारी, सब को समान दृष्टि से देखने वाले और चन्द्र की तरह प्रिय दर्शन वाले थे।

महाभारत में आर्य शब्द

महाभारत उद्योगपर्वान्तर्गत विदुर नीति में आर्य शब्द के विषय में निम्नलिखित दो अत्युत्तम तथा स्मरणीय

श्लोक पाये जाते हैं :—

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं, नदर्पमारोहत नास्तमेति ॥
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं, तमार्यशीलं परमाहुरार्याः
॥ ११७ ॥

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं, नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।
दत्वा न पश्चात् कुरुते ऽनुतापं, स कथ्यते सत्पुरुषार्य शीलः
॥ ११८ ॥

अर्थात् आर्य वह है जो शान्त हुए वैर को बढ़ाता नहीं, न अभिमान करता है और न निराश होता है। दुर्गति को प्राप्त करने पर भी जो कभी पाप कार्य नहीं करता। जो सुख प्राप्त होने पर बहुत अधिक प्रसन्नता नहीं दिखाता वा आपे से बाहर नहीं हो जाता, जो दूसरों के दुःख में कभी प्रसन्न नहीं होता, दान देकर जो पश्चात्ताप नहीं करता उसे आर्य कहा जाता है। इस प्रकार आर्य शब्द के अन्दर अनेक अत्युत्तम गुणों का समावेश होता है।

आर्य शब्द तथा शब्द कल्पद्रुमादि संस्कृत कोष

प्राचीन संस्कृत साहित्य तथा शब्द कल्पद्रुम, वाचस्पत्य बृहदभिधानादि संस्कृत कोषों में आर्य शब्द के अर्थ पूज्यः, श्रेष्ठः धार्मिकः धर्म शीलः, मान्यः उदारचरितः, शान्तचित्तः, न्यायपथावलम्बी, सततं कर्तव्य

कर्मानुष्ठाता ॥ इस प्रकार देते हुए वसिष्ठ स्मृति के निम्न श्लोक को उद्धृत किया गया है जो अत्यन्त महत्व-पूर्ण है।

कर्त्तव्यमाचरन् कार्यम्, अकर्त्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे, स तु आर्य इति स्मृतः॥

अर्थात् आर्य वह कहलाता है जो कर्तव्य कर्म का सदा आचरण करता और अकर्त्तव्य-कर्म अर्थात् पापादि से दूर रहता हो तथा जो पूर्ण सदाचारी हो।

इस प्रकार आर्य का शब्दार्थ सद्गुणों के कारण पूज-नीय, श्रेष्ठ, धर्मात्मा, सदा धर्मयुक्त स्वभाव वाला, माननीय, जाति-भेदादि जन्य संकुचित भावनाओं का परित्याग करके जो उदारचरित्र वाला है, जिसके अन्दर संकीर्णता नहीं है, ईश्वर-भक्ति तथा भगवान् में पूर्ण विश्वास के कारण जिसका चित्त सदा शान्त रहता है, जो न्याय के मार्ग का सदा अवलम्बन करता अर्थात् कभी अधर्म में प्रवृत्त नहीं होता, जो कर्तव्य-कर्म का सदा निरन्तर अनुष्ठान करता रहता है। पाठक विचार सकते हैं कि आर्य शब्द कितना अधिक महत्त्वपूर्ण है। इन उपरिवर्णित गुणों को अपने जीवन में धारण करना ही आर्यजीवन व्यतीत करना कहलाता है।

आर्य शब्द का धात्वर्थ

आर्य शब्द संस्कृत की ऋ गतौ धातु से बनता है जिसके 'ज्ञान, गमन और प्राप्ति' ये तीन अर्थ होते हैं। जो उत्तम ज्ञान को सदा प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है, जो उत्तम मार्ग की ओर सदा गति करता है और जो अन्त में भगवान् को पूर्णतया प्राप्त कर लेता है वह आर्य है।

आर्य और निरुक्त

निरुक्त में आर्य शब्द का अर्थ महामुनि यास्क ने 'आर्यः ईश्वरपुत्रः' इन शब्दों में दिया है। अर्य शब्द का अर्थ स्वामी, परमेश्वर होता है। जो उस सर्व-जगत् के स्वामी परमेश्वर के सच्चे पुत्र हैं। अर्थात् उसकी वेदोक्त आज्ञाओं का सदा पालन करने वाले हों वे आर्य कहलाते हैं।

आर्य और महात्मा बुद्ध

महात्मा बुद्ध को भी यह आर्य शब्द बहुत पसन्द था। उन्होंने आर्य सत्य, आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग आदि शब्दों का बार बार प्रयोग किया है और यहाँ तक कह कह दिया है कि : —

अरियप्पवेदिते धम्मे, सदा रमति पण्डितो।

अथवा (आर्य प्रवेदिते धर्म्मे, सदा रमते पण्डितः ॥)

अर्थात् पण्डित वा ज्ञानी पुरुष सदा आर्यों अथवा

श्रेष्ठ धर्मात्मा सदाचारी पुरुषों द्वारा उपदिष्ट धर्म में ही दिन रात आनन्द लाभ करता है ।

आर्य शब्द का लक्षण उन्होंने इस प्रकार किया है:-

न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति ।
अहिंसा सब्बपाणानं, अरियोति पवुच्चति ।।
(न तेनाऽऽर्यो भवति, येन प्राणान् हिनस्ति ।
अहिंसया सर्वप्राणानाम्, आर्य इति प्रोच्यते ।।)

अर्थात् प्राणियों का हनन करने से कोई आर्य नहीं होता, सभी प्राणियों की हिंसा न करने से उसे आर्य कहा जाता है। (धम्मपद १६।१५)

सुप्रसिद्ध योगी श्री अरविन्द जी और आर्य शब्द

सुप्रसिद्ध योगी श्री अरविन्द जी ने जिनका गत ५ दिसम्बर १६५० को देहावसान हुआ सन् १६१४ में आर्य नामक दार्शनिक पत्र को अंग्रेज़ी में निकालना प्रारम्भ किया था और सन् १६२० तक वे उसे चलाते रहे। उसके प्रथम अङ्क में उन्होंने आर्य शब्द के अर्थ और उसके महत्त्व पर इतना अच्छा प्रकाश डाला था कि उसके निम्नलिखित वाक्यों को उद्धृत करने के प्रलोभन का हम संवरण नहीं कर सकते। उन्होंने उस लेख में लिखा था: —

"आर्य' शब्द के अन्दर उदारता, नम्रता, श्रेष्ठता,

सरलता, साहस, पवित्रता, दया, निर्बल-संरक्षण, ज्ञान के लिये उत्सुकता, सामाजिक कर्तव्य पालनादि सब उत्तम गुणों का समावेश हो जाता है। मानवीय भाषा में इससे अधिक उत्तम और कोई शब्द नहीं। आर्य आत्मसंयमी और आन्तरिक तथा बाह्य स्वराज्य प्रेमी होता है। वह अज्ञान, बन्धन, तथा किसी प्रकार की दासता में रहना पसन्द नहीं करता। उसकी इच्छाशक्ति दृढ़ होती है। प्रत्येक वस्तु में वह सत्य, उच्चता तथा स्वतन्त्रता की खोज करता है। आर्य एक कार्यकर्ता और योद्धा होता है जो अपने अन्दर और जगत् में ईश्वर के राज्य को लाने के लिये अज्ञान, अन्याय तथा अत्याचारादि के विरुद्ध युद्ध करता है।"

"The word Arya expresses a particular ethical and social ideal of well-governed life, candour, courtesy, nobility, straight dealing, courage, gentleness, purity, humanity, compassion, protection of the weak, liberality, observance of social duties, eagerness for knowledge, respect for the wise and the learned, and the social accomplishments.

There is no word in human speech that has a nobler history.

The Arya is he who strives and overcomes

आवश्यकता इस बात की है कि आर्य नरनारी अपने अन्दर उपर्युक्त उत्तम गुणों को धारण करने का निरन्तर प्रयत्न करें ताकि उनके जीवन अन्यों के लिये आदर्शरूप बन जाएं। सन्ध्या, स्वाध्याय, सत्संग, यज्ञ तथा संस्कार आर्य जीवन बनाने में विशेष सहायक होते हैं। वस्तुतः मौखिक प्रचार की अपेक्षा जीवन द्वारा धर्म का अधिक प्रचार किया जा सकता है। आर्यकुमारों को भी अपना जीवन उपर्युक्त आर्य वैदिक आदर्श के अनुसार बनाना चाहिये। उन्हें आर्यकुमार सभाओं में सम्मिलित होकर

---

all outside him and within him that stand opposed to human advance. Self conquest is the first law of his nature.

He overcomes mind and its habits and he does not live in a shell of ignorance, inherited prejudices, customary ideas, pleasant opinion, but knows how to seek and choose, to be large and flexible in intelligence even as he is firm and strong in his will. For in every thing he seeks truth, in every thing right, in every thing height and freedom.

"The Arya is a worker and a warrior. Always he fights for the coming of the kingdom of God within himself and the world."

("Arya" vol. I. P. 63)

सन्ध्या हवन स्वाध्यायादि नियमित रूप से प्रतिदिन करने के अतिरिक्त व्यायाम, योगासनादि के अभ्यास द्वारा अपनी शारीरिक शक्ति को बढ़ाना चाहिये। महापुरुषों के जीवनों का अनुशीलन करके अपने सम्मुख समाज और राष्ट्र की सेवा का उद्देश्य निर्धारित करना चाहिये और उसके लिये पूर्ण योग्यता को सम्पादित करने का निरन्तर यत्न करना चाहिये। वे कम से कम २५ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य के नियमों का जितना पालन करेंगे उतना ही अपने जीवन को आदर्श आर्य जीवन बनाने में समर्थ होंगे।

: २ :

वैदिक धर्म का व्यापक रूप

धर्म का लक्षण

सबसे पहली बात जो वैदिक धर्म का यथार्थ व्यापक रूप समझने के लिए अत्यावश्यक है वह यह है कि इसका मुख्य तत्त्व सर्वतोमुख विकास का उपदेश देना और उस के साधनों का प्रतिपादन करना है। वेद जिस धर्म का प्रतिपादन करते हैं वह केवल ब्रह्म, जीव और प्रकृति के स्वरूप तथा उनके परस्पर सम्बन्ध, परलोक और पुनर्जन्मादि कुछ सिद्धान्तों तक ही सीमित नहीं है प्रत्युत उसमें उन सब गुणों और कर्त्तव्यों का समावेश है जिन से ऐहलौकिक उन्नति (अभ्युदय) और आध्यात्मिक शान्ति तथा मुक्ति (निःश्रेयस) की प्राप्ति हो। महर्षि वेदव्यास ने महाभारत में धर्म का धात्वर्थ लेकर जो लक्षण किया है वह इस प्रसङ्ग में विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने कहा है:—

धारणाद् धर्मइत्याहुः, धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्माद् धारणसंयुक्तं, स धर्म इति निश्चयः॥

अर्थात् धृञ्—धारणे इस धातु से धर्म शब्द बनता है जिसका अर्थ व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और जगत् को धारण करने वाला है। जिससे भी सब प्रजाओं का धारण व उन्नति हो वह धर्म है। वैशेषिक शास्त्रकार कणाद मुनि ने धर्म का जो सुप्रसिद्ध लक्षण कहा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।

अर्थात् जिससे अभ्युदय (इस लोक की उन्नति) और निःश्रेयस वा मोक्ष की सिद्धि हो वह धर्म है इसका स्पष्ट आधार स्वयं वेद मन्त्रों पर ही है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद और सामवेद में निम्न मन्त्र पवमानसूक्तादि विषयक आये हैं :—

पावमानीर्दधन्तु न इमं लोकमथो अमुम्।
कामान्समर्धयन्तु नो देवीर्देवैः समाहृताः॥
पावमानीः स्वस्त्ययनीस्ताभिर्गच्छति नान्दनम्।
पुण्यांश्च भक्षान् भक्षयत्यमृतत्वं च गच्छति॥

(सामवेद उत्तरार्चिक प्र० ५ मन्त्र ७-८)

इन मन्त्रों का भावार्थ यह है कि ये पवमानादि विषयक वैदिक ऋचाएं हमारे लिए इस लोक और पर-लोक की उन्नति के लिए पथदर्शिका होती हुई उन्हें धारण कराएं तथा विद्वानों द्वारा उपदिष्ट होकर हमारी सब शुभ कामनाओं को पूर्ण करने वाली हों। ये वैदिक

ऋचाएं सबको पवित्र करने वाली और कल्याण तथा आरोग्य (स्वस्थता) क मार्ग की ओर ले जाने वाली हैं।

उनके ज्ञान तथा तदनुसार आचरण से मनुष्य आनन्द को प्राप्त करता है। वह इस लोक के पुण्य सुख का उचित भोग करता है और अमरता को प्राप्त होता है।

सम विकास

यजुर्वेद के १८ वें अध्याय में यज्ञ के द्वारा जिन शक्तियों और गुणों के विकास की प्रार्थना 'यज्ञेन कल्पन्ताम्' इत्यादि रूप में की गई है वे भी वैदिक धर्म के उपर्युक्त समविकासमय व्यापक रूप की स्पष्ट घोषणा करते हैं :—

प्राणश्चमेऽपानश्च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे चित्तं च म आधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्चमे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ यजु० १८। २

ओजश्च मे सहश्च मे आत्मा च मे तनूश्च मे शर्म च मे वर्म च मे ... आयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ य० १८। ३

ज्यैष्ठ्यं च मे आधिपत्यं च मे मन्युश्चमे ... महिमा च मे वरिमा च मे प्रथिमा च मे ... वृद्धिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ यजु० १८। ४

सत्यं च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनं च मे विश्वंच मे

महश्च मे क्रीडा च मे मोदश्च मे ... सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ य० १८ । ५

ऋतं च मेऽमृतं च मेऽयक्ष्मं च मेऽनामयं च मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेऽनमित्रं च मेऽभयं च सुखं च मे सुदिनं च यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ य० १८ । ७

इत्यादि मन्त्रों में यज्ञ अर्थात् ईश्वर और विद्वानों की पूजा, सङ्गतिकरण, दानादि शुभकर्मों द्वारा शरीर, इन्द्रिय, प्राण, वाणी, मन की शक्ति, कार्यकुशलता, बल, सत्य, श्रद्धा, ज्ञान, दीर्घायु, नीरोगता, स्वस्थता, शत्रुरहितता, धन, निर्भयता, सुख, प्रसन्नता, उत्तमभाषण, उत्तम क्रिया इत्यादि के विकास की प्रार्थना तथा दृढ़ संकल्प रूप में उपदेश है। अगले मन्त्रों में भी शान्ति, सुख, प्रिय, ऐश्वर्य, पुष्टि, भद्र, यश, सूनृता (सत्य और प्रियवाणी) रस, घृत, मधु, कृषि, वृष्टि, बुद्धि (मति) अत्यन्त उत्तम पवित्र बुद्धि (सुमतिः) धन-धान्य इत्यादि सब की प्राप्ति और बुद्धि की कामना यज्ञादि शुभकर्मों द्वारा की गई है जिससे स्पष्ट है कि वैदिक धर्म व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और सारे जगत् को प्रत्येक दृष्टि से उन्नत करना चाहता है। उसमें मनुष्य के सर्वतोमुख समविकास को प्राप्त करा कर निरन्तर सुख, शान्ति, आनन्द तथा अमरता की प्राप्ति को मनुष्य जीवन का ध्येय माना गया है। इस समविकास के सम्बन्ध

में निम्न मन्त्र कितने स्पष्ट हैं जिनमें शारीरिक वाचिक, मानसिक, आत्मिक सब प्रकार की शक्तियों की वृद्धि के लिये दृढ़ संकल्प रूप में उपदेश है :—

वाङ्म आसन् नसोः प्राणचक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोरपलिताः केशा अशोणा दन्ता वहु बाह्वोर्बलम् । जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वाऽऽत्मा ऽ निभृष्टः । अथर्व १९।६०। १–२

वर्च आ धेहि मे तन्वां सह ओजो वयो बलम् । इन्द्रियाय त्वा कर्मणे वीर्याय प्रति गृह्णामि शतशारदाय ॥

आयुर्मे पाहि, प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि चक्षुर्मे पाहि श्रोत्रं मे पाहि वाचं मे पिन्व मनो मे जिन्वात्मानं मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छ ॥ (यजु १४।१७)

मनस्त आप्यायतां वाक् त आप्यायतां प्राणस्त आप्यायतां चक्षुस्त आप्यायतां, श्रोत्रं त आप्यायताम् ॥ (यजु-६।१५)

इन मन्त्रों में प्रार्थना तथा दृढ़ भावना है कि मेरी वाणी में उत्तम शक्ति रहे, नासिका, आंख, कान, दांत, बाहु, जंघा, पैर इत्यादि मेरे सब अङ्ग बलवान् बने रहें और मेरा आत्मा अत्यन्त बलशाली तथा किसी से दबने वाला न हो। हे सर्वशक्तिसम्पन्न प्रभो! तुम हमारे शरीर में वर्च (तेज) धारण कराओ, सहनशक्ति, मानसिक आत्मशक्ति, दीर्घ जीवन और बल हमें प्राप्त कराओ।

इन्द्रियों की अदम्यशक्ति, कर्म और वीर्य की प्राप्ति के लिये ही हम भक्त सौ वर्षों तक तुम्हारी आराधना करते तथा तुम्हें अपने अन्दर ग्रहण करते हैं। हे भगवन् (परमात्मन् व आचार्य) मेरी आयु की रक्षा करो। मेरे प्राण, अपान व्यानादि की रक्षा करो। मेरी आंख, कान, वाणी आदि की रक्षा करो। मेरे मन को तृप्त करो। मेरी आत्मिक-शक्ति की रक्षा करो और मुझे ज्ञान की ज्योति प्रदान करो।

आचार्य शिष्य का सम्बोधन करते हुए कहता है कि हे प्रिय शिष्य! तेरे मन की शक्ति बढ़े, तेरी वाणी की शक्ति बढ़े, तेरे प्राण की शक्ति बढ़े, तेरी आंख और कान आदि की शक्ति बढ़े। इस समविकास को ही वैदिक शिक्षा का आदर्श और मुख्य ध्येय माना गया है। यह समविकास ब्रह्मचर्य के भली भाँति पालन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिये वेदों में उसकी इतनी महिमा गाई गई है।

सर्वविध कर्तव्योपदेश

वैदिक धर्म की अन्य मत-मतान्तरों से दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि इसमें मनुष्य के वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, सब प्रकार केकर्तव्यों का बड़ी उत्तमता से प्रतिपादन किया गया है। इनमें से किसी की भी उपेक्षा

नहीं की गई।

वैयक्तिक कर्तव्यों में से मुख्यसर्वतो मुख समविकास के अतिरिक्त पूर्ण पवित्रता और आत्मसंयम है। शारीरिक, वाचिक, मानसिक, आत्मिक शक्तियों का समविकास समाज और राष्ट्र के लिये हानिकारक हो सकता है यदि इन शक्तियों को पवित्र बना कर उनका सदुपयोग न किया जाए। वेद भगवान् इसीलिये वाणी, चित्त आदि की पवित्रता पर बहुत अधिक बल देते हैं—

(१) चित्पतिर्मा पुनातु वाक् पतिर्मा पुनातु, देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तस्य ते पवित्र पते पवित्र पूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम्॥ यजु ४। ४

(२) पवमानः सो अद्यनः पवित्रेण विचर्षणिः। यः पोता स पुनातु नः॥ ऋ० ९। ६७।२२

(३) वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः। पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परिस्तोतार आसते॥ सामपूर्वार्चिक ३। ७। ९

(४) पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे। अथो अरिष्टतातये॥ अथर्व ६। १९

इत्यादि मन्त्रों में जो यहाँ चारों वेदों से उद्धृत

किये गए हैं चित्त, वाणी, आदि सब की पवित्रता की प्रार्थना है। चित्त का स्वामी मुझे पवित्र करे, वाणी को पवित्र करे। हे पवित्रता के स्वामिन् ! तेरी पवित्रता से अपने को पवित्र करता हुआ मैं शुभ कामनाओं की पूर्ति में समर्थ हो सकूँ।

(२) जो सर्वज्ञ परमेश्वर सब को पवित्र करने वाला है वह अपने पवित्र तेज से हमें पवित्र करे।

(३) हे पापनाशक प्रभो ! हम उपासक, जल के समान शान्त और पवित्र बन कर पवित्रता के तेरे स्रोत में स्नान करते और तुझ पवित्र की गोद में बैठते हैं।

(४) सब को पवित्र करने वाला परमेश्वर उत्तम ज्ञान और कर्म के लिये, बल के लिये, उत्तम जीवन के लिये तथा नीरोगता के प्रसार के लिये हमें सदा पवित्र बनाए।

वैदिक सन्ध्या में प्रतिदिन 'भूः पुनातु शिरसि' भुवः पुनातु नेत्रयोः इत्यादि द्वारा सब अङ्गों की पवित्रता के लिये प्रार्थना की जाती है और आत्मनिरीक्षण द्वारा उस पवित्रता के सम्पादन का प्रतिदिन प्रयत्न किया जाता है।

पारिवारिक कर्तव्य

पारिवारिक कर्तव्यों का भी वेदों में बड़ा सुन्दर और स्पष्ट उपदेश है। ऋ० १०। ८५ का सम्पूर्ण सूक्त विवाह

विषयक है जिस में गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हुए वर-वधूकी ईश्वर को साची जान कर की हुई गम्भीर प्रतिज्ञाओं का वर्णन है।

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ। सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ ॥ (ऋ० १०।८५।४७)

इत्यादि मन्त्र इस विषय में उल्लेखनीय हैं जिनका भाव यह है कि हम यज्ञमण्डप में उपस्थित सब विद्वानों के सन्मुख इस बात की घोषणा करते हैं कि हमारे हृदय जल के समान पवित्र, शान्त और परस्पर मिले हुए रहेंगे। जिस प्रकार प्राणवायु हमें प्रिय है ऐसे ही हमारा परस्पर प्रेम रहेगा। परमात्मा ऐसी कृपा करें जिससे हमारा प्रेम सदा स्थिर रहे इत्यादि।

यजुर्वेद के १२ वें अध्याय के निम्नलिखित २ मन्त्र पतिपत्नी कर्तव्य का बड़े ही स्पष्ट और उत्तम शब्दों में प्रतिपादन करते हैं : —

'समित ॐ संकल्पेथा ॐ संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। इषमूर्जमभि संवसानौ ॥ यजु० १२।५७

सं वां मनांसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम् ॥

य० १२। ५८

अर्थात् तुम दोनों (पतिपत्नी) मिलकर एक हो जाओ, अपनी इच्छाओं को मिला दो (इषम्—इच्छाम्

समइतम् एकीभावं प्राप्नुतम् इति दयानन्दर्षिः) दोनों का संकल्प समान हो । तुम दोनों अपनी शक्ति को बढ़ाओ (ऊर्ज-पराक्रमं समर्थयनामिति दयानन्दर्षिः) (संप्रियौ) परस्पर सदा प्रेम रक्खो (रोचिष्णू) विषयासक्ति रहित होकर तेजस्वी बनो (सुमनस्यमानौ) मनको उत्तम विचार युक्त और प्रसन्न रखकर मित्रवत् परस्पर व्यवहार करो (सुमनसौ सखायौ विद्वांसाविवाचरन्तौ–दयानन्दर्षिः) उत्तम वस्त्रालङ्कारादि से सुभूषित हो ।

मैं (आचार्य व परमात्मा) दोनों पति पत्नी के मनों, सत्य भाषणादि व्रतों और चित्तों अथवा वेदोपदिष्ट धर्म कार्यों को मिलाता हूँ । तुम दोनों सदा प्रेम से अपने कर्तव्यों का पालन करते रहो ऐसा उपदेश करता हूँ ।

अथर्ववेद ३।३० में भी इन पारिवारिक कर्तव्यों का बड़ा गम्भीर और सुन्दर उपदेश है जिनमें से निम्न २ मन्त्रों का यहां उल्लेख पर्याप्त है : —

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः । अन्यो अन्य-मभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ।। अ० ३ । ३० । १

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः । जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ।। अ०३ । ३० । २

अर्थात् मैं ईश्वर अथवा आचार्य तुम सब परिवार के सदस्यों के हृदय और मन को मिलाकर द्वेषभाव को सर्वथा

दूर करता हूँ। तुम आपस में ऐसे प्रेम करो जैसे गाय नये उत्पन्न बछड़े से करती है। पुत्र पिता के शुभ सङ्कल्प के अनुसार कार्य करने वाला हो और माता के साथ उसका मन मिला हुआ हो। पत्नी पति के साथ ऐसी वाणी का प्रयोग करे जो मधुर और शान्ति देने वाली हो। इत्यादि

सामाजिक कर्तव्य

(१) सं गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ॥
ऋ० १० । १९१ । १ ॥

(२) समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
ऋ० १० । १९१ । ४ ॥

(३) समानं चेतो अभि संविशध्वम् ॥ अथर्व० ६ । ६४ ।२॥

इत्यादि मन्त्रों में वेद भगवान् हमारे सामाजिक धर्मों व कर्तव्यों का बड़ा सुन्दर और स्पष्ट उपदेश देते हैं जिनमें बताया गया है कि हे मनुष्यो ! तुम सब मिल कर एक लक्ष्य की ओर जाओ। मिलकर प्रेम से परस्पर संवाद करो और अपने मन को सुसंस्कृत तथा ज्ञान-सम्पन्न करो।

तुम सब के संकल्प समान हों। तुम्हारे हृदय और मन समान हों जिस से तुम परस्पर मिल कर बैठ सको तथा तुम्हारा परस्पर सहयोग हो सके।

तुम समान चित्त में प्रवेश कर जाओ। तुम्हारे अन्दर किसी प्रकार का विरोध भाव व वैमनस्य न रहे। वैदिक धर्म में मनुष्यों की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों और शक्तियों को ध्यान में रखते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन गुण, कर्म, स्वभाव पर आश्रित चार वर्णों का विधान सारे समाज के कल्याणार्थ अवश्य किया गया है किन्तु साथ ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि :—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः ॥

ऋ० ५। ५६। ५ ॥

इन में से जन्म से कोई छोटा बड़ा नहीं है। सब मनुष्य भाई हैं क्योंकि परमेश्वर उन सब का पिता और पृथ्वी माता है। ऐसा मान कर व्यवहार करने से ही मनुष्यों के सौभाग्य की वृद्धि होती है।

प्रत्येक मनुष्य को सब वर्णस्थ मनुष्यों के हितकारक कार्य करके उनका प्रिय (प्रेमपात्र) बनना चाहिये तथा सब के तेज की वृद्धि के लिये प्रार्थना करनी चाहिये। वह बात वेदों के प्रिय मा कृणु देवेषु, प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ अथर्व० १६।६२।१॥

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि । रुचं विश्वेषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥

इत्यादि मन्त्रों द्वारा स्पष्ट है जिन में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब को प्रेम की दृष्टि से देखने तथा उनके प्रिय बनने का स्पष्ट उपदेश है ।

'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ यजु० ३६ । १८ ॥

इत्यादि मन्त्र भी इस विषय में स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं जिन में सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखने का प्रार्थना-रूप से उपदेश है ।

राष्ट्रीय कर्तव्य

मातृभूमि और राष्ट्र के प्रति मनुष्य के कर्तव्यों का भी वेदों में अत्युत्तम प्रतिपादन किया गया है ।

ऋग्वेद १० । १८ १० में कहा है 'उपसर्प मातरं भूमिमेताम् ।

अर्थात् हे मनुष्य तू इस मातृभूमि की सेवा कर । यजुर्वेद अ० ९ में कहा है ' नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्यै ।'

अर्थात् मातृभूमि को हमारा नमस्कार हो, हमारा बार-बार नमस्कार हो ।

अथर्व का १२ वां सम्पूर्ण काण्ड ही राष्ट्रीय कर्तव्यों

का द्योतक है जिसमें कहा है :—

"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ।"

अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को सदा यह भावना अपने मन में रखनी चाहिये कि यह भूमि हमारी माता है और हम इसके पुत्र हैं।

आगे इस सूक्त में प्रार्थना की गई है कि :—

'ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् । ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥ अथर्व० १२।५६

अर्थात् हे मातृभूमि ! जो तेरे ग्राम हैं, जो जङ्गल हैं, जो सभा समिति (कौन्सिल, पार्लियामेन्ट आदि) अथवा संग्रामस्थल हैं हम उन में से किसी भी स्थान पर क्यों न हों सदा तेरे विषय में उत्तम ही विचार तथा भाषणादि करें—तेरे हित का विचार हमारे मन में सदा बना रहे ।

मातृभूमि के लिये प्राणों तक की बलि देने को उद्यत रहना चाहिये यह बात—

'उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः । दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥ अथर्व० १२।६२ में कर दी गई है । जिसका तात्पर्य है कि हे मातृभूमि ! हम सर्व रोग-रहित और स्वस्थ होकर तेरी सेवा में सदा उपस्थित रहें । तेरे अन्दर

उत्पन्न और तय्यार किये हुए (स्वदेशी) पदार्थ ही हमारे उपयोग में सदा आते रहें। हमारी आयु दीर्घ हो। ज्ञान सम्पन्न होकर हम (आवश्यकता पड़ने पर) तेरे लिये प्राणों तक की बलि को लाने वाले हों। इससे उत्तम राष्ट्रिय धर्म का उपदेश क्या हो सकता है ? राष्ट्र के ऐश्वर्य को भी खूब बढ़ाने का यत्न करना चाहिये। इस बात का वैदिक धर्म उपदेश देता है।

जहाँ भगवान् से वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक कल्याण के लिये प्रार्थना की जाती है वहां प्रत्येक देशभक्त को यह भी प्रार्थना प्रतिदिन करनी चाहिये और इस के लिये प्रयत्न करना चाहिये कि—

स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजूतं तस्य ते रातौ यशसःस्याम ॥ अथर्व० ६।३९।२ ॥

अर्थात् हे परमेश्वर ! आप हमें परमैश्वर्य सम्पन्न राष्ट्र को प्रदान करें। हम आप के शुभ-दान में सदा यशस्वी होकर रहें।

राष्ट्र की उन्नति किन गुणों के धारण करने से हो सकती है। इस बात को वेद भगवान्—

'सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपोब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। (अथर्व० १२।१) 'ध्रुवां' भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्। (अथर्व० १२।१७) इत्यादि शब्दों द्वारा

बताते हैं कि सत्य, विस्तृत अथवा विशाल ज्ञान, क्षात्र-बल, ब्रह्मचर्यादि व्रत, सुख दुःख सर्दी गर्मी, मान अपनादि द्वन्द्वों को सहन करना, धन और अन्न, स्वार्थ त्याग, सेवा और परोपकार की भावना ये गुण हैं जो पृथिवी को धारण करने वाले हैं। इन सब को एक शब्द 'धर्म' के अन्दर रखते हुए कहा है कि पृथिवी धर्म द्वारा धारित की जाती है।

इनके अतिरिक्त उत्तम भाषा, संस्कृति और भूमि इनतीनों को इड़ा, सरस्वती, मही नाम से पुकारते हुए वेद इनको हृदय में सदा स्थान देने का उपदेश करते हैं जैसे कि

(इड़ा सरस्वती मही ति स्रो देवीर्मयो भुवः बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः।" (ऋग्वेद १-१३-९)

इस मन्त्र में उन्हें कल्याणकारिणी देवी बताते हुए यह प्रार्थना है कि वे हमारे हृदय में सदा विराजमान रहें।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आर्य समाज जिस वैदिक धर्म का देश देशान्तरों में प्रचार करना चाहता है वह कोई संकुचित, अनुदार सम्प्रदाय नहीं है किन्तु उसके अन्दर व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति में सहायक सभी गुणों और कर्त्तव्यों का समावेश है।

ज्ञान, कर्म और उपासना (भक्ति) का वैदिक धर्म में सुन्दर मेल है। केवल ज्ञान, केवल कर्म और केवल भक्ति से मुक्ति की प्राप्ति नही हो सकती। तीनों के समुच्चय से ही मोक्ष वा परमानन्द प्राप्त होता है यह वैदिक धर्म की शिक्षा है। श्रद्धा और मेधा (शुद्ध बुद्धि व तर्क) का सुन्दर मेल वैदिक धर्म सिखाता है। जहां वेद हमें

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि। श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥ (ऋ० १०। १५१। ५)

इत्यादि मन्त्रों द्वारा प्रातः, मध्यान्ह और सूर्यास्त के समय श्रद्धा को धारण करने और जीवन श्रद्धामय बनाने का उपदेश करते हैं वहां साथ ही हमें मेधा व शुद्ध बुद्धि को भी हर समय धारण करने का उपदेश देते हैं।

मेधां सायं मेधाप्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि। मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे ॥ (अथर्व ६–१०८–५)

इत्यादि मन्त्र इस विषय में स्पष्ट हैं जहां प्रातः, मध्यान्ह, सायं, सूर्य की किरणों के साथ मेधा अथवा शुद्ध बुद्धि व तर्क को हम अपने अन्दर धारण करें। हमारे सब विचार और कार्य शुद्ध बुद्धि द्वारा प्रेरित हों यह भाव है। वैदिक धर्म की श्रद्धा अन्ध-विश्वास नहीं है किन्तु उसका शब्दार्थ ही श्रत्+धा अर्थात् सत्य का धारण करना है।

शुद्ध बुद्धि व तर्क द्वारा सत्य के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर के उसे सम्पूर्णतया अपने अंदर धारण करना, कठिन से कठिन आपत्तियों के आने पर उसे न छोड़ना यही श्रद्धा है। वैदिक धर्म इस प्रकार श्रद्धा और मेधा (शुद्ध बुद्धि वा तर्क) के मेल का उपदेश देता तथा इसी के लिए प्रार्थना करना सिखाता है।

"अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्रयच्छतु॥" (अथर्व १९। ६४। १) इत्यादि मन्त्रों का यही तात्पर्य है।

वेद 'मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।"

(अथर्व २०। २। २६)

इत्यादि मन्त्रों द्वारा ज्ञानी के लिए मस्तिष्क (दिमाग़) और हृदय (दिल) को सी कर काम करने का उपदेश देते हैं जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अन्य मत मतान्तरों में प्रायः कहा जाता है कि मज़हब की बातों में अक़ल का दख़ल नहीं। धर्म के विषय में तर्क करने को नास्तिकता का चिन्ह समझा जाता और इसे बुरा मनाया जाता है केवल विश्वास पर ज़ोर दिया जाता है जिसका परिणाम मरियम कुमारी से ईसा की उत्पत्ति, ४ रोटी के टुकड़ों से हजार आदमियों का पेट भरना, पानी को शराब बना देना, मुर्दों को

जीवित कर देना, ईसा आदि का कबर में से निकल पड़ना जैसी प्रकृति नियम विरुद्ध असम्भव बातों को मानना हो जाता है किन्तु वैदिक धर्म इस प्रकार की बातों को नहीं मानता। इसकी विशेषता यह है कि यह प्रत्येक बात में बुद्धि और तर्क को काम में लाने का उपदेश देता है। यह तर्क को बुरा नहीं अपि तु ऋषि मानता है। (तर्को वै ऋषिः—तस्मै तर्कमृषिं प्रायच्छन्-निरुक्त) इसके सिद्धान्त युक्ति युक्त और दार्शनिक हैं। पाश्चात्य विद्वानों में से भी जिन्होंने निष्पक्षपात होकर वैदिक धर्म को समझने का यत्न किया है उन्होंने इस बात को स्पष्ट स्वीकार किया है और उनमें से कइयों ने इस पर अत्यन्त आश्चर्य भी प्रकट किया है उदाहरणार्थ श्री० ब्राऊन (W. D. Brown) नामक अंग्रेज़ विद्वान् ने The Superiority of the Vedic Religion (वैदिक धर्म की श्रेष्ठता) नाम की पुस्तक में वैदिक धर्म के विषय में स्पष्ट लिखा है :—

वैदिक धर्म एकेश्वरवाद का प्रतिपादक है। यह एक सम्पूर्णतया वैज्ञानिक धर्म है जिसमें धर्म और विज्ञान हाथ में

It (Vedic Religion) recognises but one God. It is a throughly scientific religion where religion and science meet hand in hand. Here theology is based upon Science and philosophy.

हाथ मिलाकर चलते है। इसके धार्मिक सिद्धान्त, विज्ञान और तत्त्व ज्ञान पर अवलम्बित हैं। धर्म के साथ विज्ञान के सम्बन्ध के विषय में विचार हम इस विषय के लेख में फिर प्रकट करेंगे। इतनी विवेचना से यह स्पष्ट है कि वैदिक धर्म एक सार्वभौम तथा युक्ति युक्त धर्म है॥

: ३ :

वैदिक ईश्वरवाद

इस निबन्ध में हम संक्षेप में यह दिखाना चाहते हैं कि वेदों में ईश्वर का क्या स्वरूप बतया गया है। वेदों का निष्पक्षपात होकर यदि हम अनुशीलन करें तो हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि वेद एक ईश्वर की पूजा का प्रतिपादन करते हैं जो सच्चिदानन्द स्वरूप, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, निराकार, निर्विकार, अजन्मा, अविनाशी, न्यायकारी, दयालु, जगत् का कर्ता, धर्ता और संहर्ता है।

य एकइत् तमुष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः। पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः ॥ ऋ० ६।४५।१६

इस वेदमन्त्र में उपदेश है कि हे मनुष्य! तू उस एक परमेश्वर की स्तुति कर जो एक ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और जगत् का स्वामी है। 'एकइत्" इन शब्दों से एक परमेश्वर की पूजा का भाव अत्यन्त स्पष्ट है।

निम्नलिखित वेदमन्त्र भी इसी भाव को अत्यन्त प्रबल शब्दों में प्रकट करता है :—

माचिदन्यद् विशंसत सखायो मा रिषण्यत। इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सतासुचे मुहुरुक्था च शंसत॥ ऋ० ८।१।१

अर्थात् हे मित्रो! अन्य किसी की भी तुम स्तुति मत करो और इस प्रकार औरों की स्तुति करके दुःख मत उठाओ। प्रत्येक शुभ कार्य में सर्वसुख वर्षक इन्द्र अर्थात् परमेश्वर की ही बार २ स्तुति करो। अन्य किसी की नहीं।

इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि शब्दों को देखकर कई लोग भ्रम में पड़ जाते हैं और समझने लगते हैं कि वेद अनेक ईश्वर वाद के समर्थक हैं किन्तु वेदों के निष्पक्षपात अनुशीलन से यह भ्रम सर्वथा दूर हो जाता है। ऋग्वेद के प्रथम ही मण्डल में यह स्पष्ट बताया गया है किः—

अग्निंमित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ (ऋ० १। १६४।१६) अर्थात् विद्वान् ज्ञानी लोग एक ही परमेश्वर को उसके विविध गुणों को प्रकट करने के लिये इन्द्र, मित्र, वरुण आदि अनेक नामों से पुकारते हैं। परमैश्वर्य सम्पन्न होने से उस परमेश्वर को इन्द्र, सब का स्नेही होने से मित्र, सर्व-

श्रेष्ठ और अज्ञानान्धकार निवारक होने से वरुण, ज्ञान-स्वरूप और सब का नेता होने से अग्न, सब का नियामक होने से यम, आकाश व जीवादि में अन्तर्यामिरूपेण व्यापक होने के कारण मातरिश्वा आदि नामों से उस एक की ही स्तुति की जाती है। इस समय के यूरप के सुप्रसिद्ध विद्वान् विचारक मि० अर्नेस्ट वुड (Ernest Wood) ने An English man defends Mother India में इस मन्त्र का अनुवाद देते हुये यह टिप्पणी की है:—

In the eyes of the Hindus, there is but one Supreme God. This was stated long ago in the Rig Veda in the following words :—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति

which may be translated : "The sages name the one Being variously." P. 128.

अर्थात् हिन्दुओं की दृष्टि में ही परमेश्वर है। इस सत्य का प्रतिपादन बहुत प्राचीन काल में ऋग्वेद में 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' इत्यादि शब्दों द्वारा किया गया था जिनमें स्पष्ट बताया गया है कि ज्ञानी एक ही परमेश्वर को अनेक नामों से पुकारते हैं। यूरप के संस्कृतज्ञों में अपने समय में सब से अधिक सुप्रसिद्ध प्रो० मैक्समूलर को भी जिन्होंने अपने पहले ग्रन्थों में वेदों की

हीनदेवतावाद (Heno—theism or Katheno-theism) का प्रतिपादक बताने का प्रयत्न किया था यह बात अपने अन्तिम ग्रन्थ The Six Systems of Philosophy) में जो ऋषि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के पढ़ने के बाद लिखा गया था स्वीकार करनी पड़ी कि वेदों में इन्द्र, मित्र, अग्नि, मातरिश्वा, प्रजापति इत्यादि शब्दों द्वारा वस्तुतः एक ही ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है जो अनन्त और निर्विकार है।

प्रो० मैक्समूलर के अपने शब्द निम्नलिखित हैं

"Whatever is the age when the collection of our Rigveda Samhita was finished, it was before that age, that the conception had been formed that there is but one, one Being neither male nor female, a Being raised high above all the conditions, and limitations of personality and of human nature and **never the less the Being that was really meant by all such names as Indra, Agni, matarishvan and by the name ofpraja pati—lord of creatures**"

(The Six systems of Philosophy.)

प्रो० मैक्समूलर तथा यूरप के कई अन्य विद्वान् इस प्रकार के स्पष्ट एकेश्वर वाद प्रतिपादक वेद मन्त्रों को ईसाइयत अथवा विकास वाद के पक्षपात के कारण पीछे

की रचना बताने का प्रयत्न करते हैं किन्तु यह उनकी मनघड़न्त कल्पना है जो सर्वथा निराधार है। इस पक्ष-पात का स्पष्ट प्रमाण प्रो० मैक्समूलर के Vedic Hymns नामक ग्रन्थ के निम्नलिखित लेख से मिलता है जहां हिरण्यगर्भसूक्त (ऋग्वेद १०। १२१) का अनुवाद करते हुए जिस में 'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।"

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद् राजा जगतो बभूव। यो देवेष्वधिदेव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ततो देवानां समवर्ततासुरेकः ॥

इत्यादि मन्त्रों में अत्यन्त स्पष्ट और प्रबल शब्दों में एकेश्वर वाद का प्रतिपादन है जसा कि स्वयं प्रो० मैक्समूलर ने 'History of Ancient Sanskrit Literture' में

I add only one more hymn (Rig. 1.121) in which the idea of One God is expressed with such power and decision that it will make us hesitate before we deny to the Aryans an instinctive monotheism. "इत्यादि शब्दों द्वारा स्वीकार किया है। वे टिप्पणी चढ़ाते हैं:—

"This is one of the hymns which has always been suspected as modern by European interpreters."

अर्थात् यह उन सूक्तों में से है जिन पर यूरपीय भाष्यकारों ने सदा नवीन होने का सन्देह किया है।

"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव" ऋ १० १२१।१०

इस मन्त्र पर प्रो. मैक्समूलर टिप्पणी चढ़ाते हैं।

This last verse is to my mind the most suspicious of all."

अर्थात् यह अन्तिम मन्त्र जिसमें परमेश्वर को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि तुम्हें छोड़ कर अन्य कोई भी इस सारे जगत् में व्यापक और इसका स्वामी नहीं है, मेरी सम्मति में सब से अधिक सन्देहास्पद है। यह सन्देह इस लिये किया गया है कि ईसाइयत के पत्तपात के कारण, प्रबल प्रमाण होते हुए भी ये लोग इस बात को मानने में संकोच करते हैं और इस के लिये उद्यत नहीं होते कि वेदों में एकेश्वर वाद की उच्च शिक्षा पाई जाती है।

कुछ पाश्चात्य विद्वान् और वैदिक एकेश्वरवाद

पाश्चात्य विद्वानों में से भी जो २ अपने को इस विकासवाद और ईसाइयत के पत्तपात पूर्ण मोह से ऊपर उठा चुके हैं उन्होंने वैदिक एकेश्वरवाद को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ प्रसिद्ध पाश्चात्य

विद्वान् चार्ल्सकोलमैन ने वैदिक ईश्वरवाद का निम्नलिखित सुन्दर तथा महत्त्वपूर्ण शब्दों में प्रतिपादन किया है : —

"The Almighty, Infinite, Eternal, incomprehensible, Self-existent Being, He who sees every thing though never seen is Brahma—the One Un-Known True Being, the Creator, the Preserver and Destroyer of the Universe. Under such and innumerable other definitions is the Deity acknowledged in the Vedas."

(The Mythology of the Hindus.)

इस उद्धरण का सारांश यह है कि वेदों में ईश्वर को सर्वशक्तिमान्, अनन्त, नित्य, अविज्ञेय, स्वयम्भू, सर्वज्ञ, एक सृष्टि का कर्ता, धर्ता और संहर्ता माना गया है।

कौन्ट जान्स जर्न (Count Bjornstjerne) नामक प्रसिद्ध विद्वान् ने Theogony of the Hindus P. 53 में वेद मन्त्रों के उद्धरण देकर लिखा है :—

"These truly sublime ideas can not fail to convince us that the Vedas recognise only One God, who is Almighty, Infinite, Eternal, Self-existent, the Light and Lord of the Universe."

अर्थात् इन उद्धरणों में प्रकाशित भावों से हम निश्चिततया इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि वेद एकेश्वरवाद का ही प्रतिपादन करते हैं जो ईश्वर

सर्वशक्तिमान् , अनन्त, नित्य, स्वयम्भू और जगत् का प्रकाशक तथा स्वामी है।

जर्मन विद्वान् श्लीगल इत्यादि ने भी इसी भाव को

"It cannot be denied that the early Indians possessed a knowledge of the true God."

(Wisdom of the Ancient Indians.)

अर्थात् इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्राचीन आर्यों को सच्चे ईश्वर का ज्ञान प्राप्त था इत्यादि शब्दों में प्रकट किया।

य एक इद् हव्यश्चर्षणीनाम् इन्द्रं तं गीर्भिरभ्यर्च आभिः (ऋ० ६ । २२ । १)॥

यो देवानां नामध एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥ (ऋ० १० । ८२ । ३)

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः ।··· मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिः एक एव नमस्यः सुशेवाः ॥ (ऋ० १० । ८२ ३)

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते स एष एक एकवृदेक एव ॥

(अथर्व १३ । ४ २०)

इत्यादि सैंकड़ों मन्त्र एकेश्वरवाद के स्पष्टप्रतिपादक हैं। Heno-theism के समर्थक विद्वानों का कथन यह है

कि वैदिक ऋषि अनेकेश्वरवादी थे किन्तु वे जिस देवता की स्तुति करने बैठते थे भाटों की तरह उसी को सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् तथा जगत् का स्वामी मान लेते थे और उस समय अन्य सब को उसके आश्रित तथा उसकी अपेक्षा हीन समझते थे। इस प्रकार वे इन्द्र, मित्र, वरुणादि भिन्न २ देवों की स्तुति करते रहते थे। इस वाद का एक तो उपर्युक्त प्रमाणों से निराकरण हो जाता है और दूसरा निम्न प्रकार के सैंकड़ों मन्त्रों से जो वेदों में स्थान २ पर पाये जाते हैं उस कल्पना की भित्ति सर्वथा चकनाचूर हो जाती है जिनमें वरुण, मित्र, इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, रुद्र आदि को अभिन्न वा एक बताया गया है यथा

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरु गायो नमस्यः। त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते, त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या ॥ (ऋ० २ । १ । ३)

त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः। त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य सम्भुजं त्वमंशो विदथे देव भाजयुः॥ (ऋ. २ । १ । ४)

इन मन्त्रों में परमात्मा को अग्नि (ज्ञान स्वरूपनेता) के नाम से सम्बोधित करते हुए कहा है कि तू ही इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा' ब्रह्मणस्पति है। तू ही वरुण, मित्र, अर्यमा आदि नामों से पुकारा जाता है अर्थात् परमैश्वर्य सम्पन्न

होने से वही परमेश्वर इन्द्र, सर्वव्यापक होने से विष्णु, सब से बड़ा होने से ब्रह्मा, ज्ञान का स्वामी होने से ब्रह्मणस्पति, सर्वोत्तम व अज्ञानान्धकार निवारक होने से वरुण, सब का स्नेही होने से मित्र और न्यायकारी होने से अर्यमा के नाम से याद किया जाता है।

सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः।
सोऽग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः॥

(अथर्व १३।४।४।५)

इस मन्त्र में भी कहा गया है कि वही परमात्मा अर्यमा, वरुण, रुद्र, महादेव, अग्नि, सूर्य, महायम इत्यादि नामों से पुकारा जाता है।

ईश्वर का स्वरूप

यदि वैदिक ईश्वरवाद के विषय में कोई एक ही मन्त्र उद्धृत किया जा सकता है जिसमें सागर को गागर में भर दिया गया है तो वह निस्सन्देह यजुर्वेद का ४०।८ है जहाँ "सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

(यजु. ४०।८)

इन शब्दों द्वारा बताया गया है कि उस परमेश्वर को ज्ञानी प्राप्त करता है जो सर्वशक्तिमय, सर्वथा शरीर रहित,

नस नाड़ी के बंधनरहित, निराकार, निर्विकार शुद्ध पवित्र तथा सर्वथा पाप रहित है। वह सर्वज्ञ, मन का भी जाननेवाला, सर्वव्यापक, स्वयम्भू है जो अनादि जीवरूप प्रजा के कल्याणार्थ यथार्थ रूप से पदार्थों को बनाता और वेद द्वारा उनका उपदेश देता है।

य इमे द्यावापृथिवी रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा
तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवंत्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥
(ऋ० १० । ११० । ६)

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥ (ऋ० १० । ८१ । ३)

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभेइमे, स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम्। स्कम्भोदाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमाविवेश ॥ (अथर्व १० । ७ । ३५)

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे जुहूमसि द्यविद्यवि ॥
(ऋ० १ । ४ । १)

इत्यादि मन्त्र भी इस विषय में मननीय हैं जिनमें परमेश्वर को जगत् का कर्ता बताया गया है पर साथ ही त्वष्टा, रूपैरपिंशत् भुवनानि विश्वा, सुरूपकृत्नु इत्यादि शब्दों के प्रयोग द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है कि परमात्मा अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं करता किन्तु

विद्यमान प्रकृत्यादि को वह रूप दे देता है। दूसरे शब्दों में वह जगत् का उपादान कारण नहीं, निमित्तकारण है। जगत् के अन्दर जो क्रम (Order) दिखाई देता है उसे रखने वाला जिसका विशेष निर्देश 'शंनोविष्णुः उरुक्रमः इत्यादि द्वारा किया गया है अर्थात् इस सम्पूर्ण जगत् के धारण करने वाला वही एक है।

इस विषय में सैंकड़ों मन्त्रों को उद्धृत किया जा सकता है जिनमें यह भाव प्रकट किया गया है कि जगत् की सब वस्तुएं सूर्य, चन्द्र, पर्वत, समुद्र, नदी पृथ्वी आदि उस परमेश्वर की महिमा का मानो गान कर रही हैं किन्तु लेख विस्तारभय से दो तीन मन्त्रों का निर्देश ही पर्याप्त है।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्यबाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधिसूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णामि एष ते योनिः, सूर्यस्ते महिमा यस्ते अहन् संवत्सरे महिमा संबभूव यस्ते वायावन्तरिक्षे महिमा संबभूव यस्ते दिवि सूर्ये महिमा संबभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये स्वाहा देवेभ्यः ॥ यजु० २३।२

प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिश्चन्द्रमास्ते

महिमा। यस्ते रात्रौ संवत्सरे महिमा संबभूव यस्ते पृथिव्यामग्नौ महिमा संबभूव यस्ते नक्षत्रेषु चन्द्रमसि महिमा संबभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यः स्वाहा ॥
यजु० २३।२४ ॥

इसके अतिरिक्त 'मानो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वादिवं सत्यधर्मा जजान।" (ऋ० १०।१२१।९) इत्यादि मन्त्रों में परमात्मा को सत्यधर्मा बताते हुए उस के अटल नियमों का—

'अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचा कशच्चन्द्रमा नक्तमेति। (ऋ० १।२४।१०) अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षम् अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः। आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि ॥ (यजु० ४।२०)

इत्यादि में स्पष्ट प्रतिपादन किया है। इन्हीं अटल नियमों को जो भौतिक और नैतिक जगत् में काम कर रहे हैं ऋत और सत्य के नाम से पुकारते हैं। उनका स्रोत परमात्मा को बताया गया है। उदाहरणार्थ—
ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत (ऋ०।१९०।१
इत्यादि को उद्धृत किया जा सकता है।

इस प्रकार हम ने वैदिक ईश्वरवाद का स्वरूप संक्षेप से दिखाया है जो अत्यन्त युक्त-युक्त और वैज्ञानिक है ॥

: ४ :

वैदिक धर्म और विश्व शान्ति

शाश्वत् सुख, शान्ति और आनन्द की प्राप्ति मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि प्रत्येक मनुष्य शान्ति प्राप्त करने के लिये आतुर है किन्तु दुर्भाग्यवश बहुत ही कम हैं जो यह जानते हैं कि सच्ची शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है। इस अज्ञान का ही यह परिणाम है कि चारों ओर अशान्ति का साम्राज्य दृष्टिगोचर हो रहा है तथा हाहाकार मचा हुआ है। न व्यक्तियों को शान्ति प्राप्त है, न समाज को और न राष्ट्रों को फिर समस्त विश्व में शान्ति की तो बात ही क्या कही जाए! अतः सब व्यक्तियों और नेताओं का कर्तव्य है कि वे सच्ची शान्ति की प्राप्ति के उपायों पर गम्भीरता से विचार करें और स्वयं शान्ति प्राप्त करके सर्वत्र शान्ति के प्रसार में सहायक बनें।

हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि वैदिक धर्म की सार्व-भौम शिक्षाओं पर आचरण करने से ही मनुष्य मात्र का

कल्याण हो सकता और समस्त संसार में शान्ति की स्थापना हो सकती है। इस निबन्ध में इसी विषय पर संक्षेप से विचार किया जाएगा।

विश्व शान्ति के लिये प्रार्थना।

वैदिक आर्य प्रत्येक शुभ कार्य के अन्त में यजुर्वेद ३६। १७। के इस वेद-मन्त्र का पाठ करते हैं जो विश्व-शान्ति के लिये प्रार्थना रूप में है :—

ओं द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्मशान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेवः शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥

यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मन्त्र है जिस में प्रार्थना की गई है कि आकाश, अन्तरिक्ष (मध्य लोक) पृथिवी, जल, औषधियां, वनस्पतियां ये सब हमारे लिये शान्ति दायी हों। सब देव (सत्यनिष्ठ विद्वान् लोग) हमें शान्ति देने वाले हों। (ब्रह्म शान्तिः) परमेश्वर और वेद ज्ञान हमें शान्ति देने वाला है (सर्वं शान्तिः) सब कुछ हमारे लिये शान्तिदायक हो (शान्तिः एव शांतिः) सब जगह शांति ही शांति हो (सा शान्तिः मा एधि) वह सच्ची शान्ति हममें से प्रत्येक को चारों ओर से प्राप्त हो। आध्यात्मिक, आधि भौतिक आधि-

दैविक तीनों प्रकार की शान्ति हमें प्राप्त हो। आध्यात्मिक शान्ति वह होती है जब प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्दर शान्ति का अनुभव करता है। जब उसकी इन्द्रियां स्वस्थ हों, मन शान्त और शिव संकल्प करने वाला हो तथा आत्मा की अधीनता में इन्द्रियां, मन, बुद्धि, चित्त सब ठीक २ कार्य करने वाले हों। आधिभौतिक शान्ति तब होती है जब समाज वा सोसाइटी के सब सदस्य परस्पर प्रीति पूर्वक व्यवहार करने वाले हों। जब सब के अन्दर परस्पर प्रेम और सहयोग की भावना हो। आधिदैविक शान्ति से तात्पर्य भौतिक जगत् में शान्ति से है जब अति वृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़, आंधी, तूफ़ान आदि के उपद्रव न हों जो जनता की शान्ति के भङ्ग करने वाले बन जाते हैं। इस त्रिविध शान्ति की भावना से ही तीन वार आचमन किया जाता और 'द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः' इस मन्त्र के अन्त में तीन बार 'ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः' ऐसा उच्चारण किया जाता है।

"द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः" इस सुप्रसिद्ध यजुर्वेदीय मन्त्र के साथ मिलता हुआ एक दूसरा वेद मन्त्र अथर्ववेद १६। ६। १४ का है जिसका उल्लेख करना भी हमें इस प्रसङ्ग में अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है:—

ओं पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः

शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे मे देवाः शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः । ताभिः शान्तिभिः सर्व शान्तिभिः शमयामोहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः ॥ (अथर्व वेद १६ । ६ । १४)

इस में पृथिवी, अन्तरिक्ष, आकाश, जल, ओषधि वनस्पति की शान्ति के लिए पूर्ववत् प्रार्थना करते हुए दोबार आगे कहा है कि सब स्थानों के देव अर्थात् सत्य निष्ठ विद्वान् लोग—सत्य संहिता वै देवाः—विद्वांसो हि देवाः) हमें शान्ति देने वाले हों । सब जगह आध्यात्मिक, आधिभौतिक शान्ति हो अतः मन्त्र में ही तीन बार इकट्ठा शान्ति शब्द का पाठ है । उन सब प्रकार की शान्तियों को प्राप्त करने का प्रयत्न और दृढ़ संकल्प करते हुए हम उनके द्वारा शान्ति में बाधक मोह (अज्ञान वा आसक्ति) को दूर करते हैं जो कुछ घोर (भयङ्कर वा कठोर अंश) हमारे अन्दर है वह शान्त हो जाए । जो क्रूर वा निर्दयता पूर्ण अंश है वह शान्त हो जाए, जो इस संसार में पाप है वह शान्त हो जाए, पाप दूर होकर हमारा कार्य कल्याणकारक हो । सब कुछ हमारे लिये शान्तिदायक हो ।

इस मन्त्र में प्रार्थना के साथ २ इस बात का स्पष्ट

निर्देश किया गया है कि अज्ञान, कठोरता, निर्दयता तथा पाप के कारण समाज, राष्ट्र तथा जगत् में अशान्ति फैलती है अतः उन्हें दूर करने का निरन्तर प्रयत्न करके सर्वत्र शांति का प्रसार करना आवश्यक है।

शान्ति की प्राप्ति के साधन

वैदिक धर्म इस बात का उपदेश करता है कि शान्ति का मूल स्रोत परमेश्वर है अतः सब को उस परमेश्वर की सच्चे हृदय से उपासना करनी चाहिए और उस पर पूर्ण विश्वास रखते हुए शुभ कर्म करने में तत्पर रहना चाहिए। हम जो प्रतिदिन सन्ध्या करते हैं उसके प्रारम्भ में शान्तिमयी, आनन्ददायिनी माता के रूप में भगवान् को स्मरण करते हुए उस से प्रार्थना करते हैं कि—

'ओं शंनो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभिस्रवन्तु नः ॥

अर्थात् वह सर्वव्यापिनी, आनन्ददायिनी माता हमारे अभीष्ट सुखों की प्राप्ति और पूर्णानन्द की प्राप्ति अथवा भक्ति अमृत के पान के लिये हमारे लिये शांति देने वाली हो। वह हमारे भय, रोग, दुःख, शोक, अज्ञान पाप इत्यादि को दूर के हमारे चारों ओर शांति की वर्षा करे।

संध्या के अंत में भी शांति मूल परमेश्वर को हम

निम्न मंत्र द्वारा स्मरण करते हुए उसे नमस्कार करते हैं–

ओं नमः शम्भवाय च मयो भवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ अर्थात् शांति और सुख के मूल परमेश्वर को हमारा नमस्कार हो, शांति और सुख देने वाले परमेश्वर को हमारा नमस्कार हा, शांति और अत्यन्त शांतिमय परमेश्वर को हमारा नमस्कार हो ।

संसार की वस्तुएं कभी नित्य शांति नहीं दे सकतीं। नित्य शांति उस शांति के मूल भगवान् का स्मरण करने से ही प्राप्त हो सकती है। वह परमेश्वर हम सब का पिता और वही हमारी मङ्गलमयी माता है जैसे कि 'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अथा ते सुम्नमीमहे ।"

इत्यादि वेद मन्त्रों में बताया गया है। इसलिये हम सब उस परमात्मा के पुत्र होने के कारण भाई हैं। वेद भगवान् हमें उपदेश देते हैं कि 'अज्येष्ठासा अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वा वृधुः सौभगाय। युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः ॥

सब मनुष्य आपस में (भ्रातरः) भाई २ हैं उनमें जन्मादि के कारण कोई ऊंच नीच नहीं है। इस भ्रातृ भावना को धारण करते हुए ही सबको सौभाग्य की प्राप्ति

होती है और वे सब बुद्धि व उन्नति को प्राप्त करते हैं। सारे संसार का उत्पादक, शुभ कर्म करने वाला और दुष्टों को कर्म फल देकर रुलाने वाला परमेश्वर सब का पिता है और उत्तम दूध देने वाली गाय के समान विद्यमान पृथिवी सब की माता है। यही भावना सब को अपने अन्दर धारण करनी चाहिये। यदि संसार के सब मनुष्य इस अत्युच्च पवित्र वैदिक भावना को धारण करके परस्पर प्रेम युक्त व्यवहार करने लगें तो विश्व शांति की स्थापना में क्या सन्देह हो सकता है ?

वैदिक धर्म के अनुसार शांति की प्राप्ति का दूसरा साधन वाणी, मन, इन्द्रियादि का सदुपयोग है। इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित ३ मन्त्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जो अथर्व १९। ९ के हैं :—

(१) इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्म संशिता।
यथैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ॥

(२) इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम्।
येनैव ससृजे घोरं, तेनैव शान्तिरस्तु नः ॥

(३) इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणिमनः षष्ठानिमे हृदि ब्रह्मणा संशितानि। यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शांतिरस्तु नः ॥

इन मन्त्रों का तात्पर्य निम्न प्रकार है.

(इयम्) यह (या) जो (परमेष्ठिनी) परमतत्व-परमेश्वर

के वर्णन-भजनादि में प्रवृत्त (ब्रह्मसंशिता) ज्ञान द्वारा तीक्ष्णीकृत (देवीवाक्) दिव्यगुणयुक्त पवित्र वाणी है (यया एव घोरं ससृजे) जिस अदिव्य अपवित्र वाणी ने ही संसार में बड़ा घोर अनर्थ मचा रक्खा है (तया एव) उस पवित्र परमेश्वर गुणप्रतिपादिका, ज्ञान द्वारा शक्ति-शालिनी वाणी के प्रयोग से (नः शांतिः अस्तु) हमें शांति प्राप्त हो।

असत्य, गाली-गलौच से भरपूर कठोर वाणी संसार में कितने उपद्रव का कारण बन जाती है ? किस प्रकार महाभारत जैसा विश्वयुद्ध अधिकतर द्रौपदी देवी के मुख से निकले हुए इन उपहास पूर्ण कठोर वचनों का परिणाम हुआ कि 'अन्धे के घर अन्धा ही पैदा हुआ, जब मयशिल्पी द्वारा निर्मित अद्भुत राजसभा-भवन में दुर्यो-धन को जल में स्थल और स्थल में जल का भ्रम हुआ और उसके अनुसार ही उसने आचरण किया इस बात को महाभारत की कथा जानने वाले सब जानते हैं। ये शब्द दुर्योधन को तीर की तरह चुभे और उसी क्षण उसने पाण्डवों से बदला लेने का निश्चय करके द्यूत क्रीडादि का कपट पूर्ण आयोजन किया। परिवारों में पति-पत्नी या पिता-पुत्र आदि में से किसी के मुख में से क्रोधवश कठोर वचन वा ताने भरे शब्द निकलने पर

किस प्रकार घर की शांति का भङ्ग हो जाता है अथवा किस प्रकार क्रोध में गाली-गलौच का किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति विशेषतः जब वह दूसरी जाति वा सम्प्रदाय का हो प्रयोग करने पर दोनों पक्षों के लोग इकट्ठे होकर परस्पर हिंसा में प्रवृत्त हो जाते और साधारण सा विवाद भयङ्कर हिन्दू-मुस्लिम दंगे आदि का रूप धारण कर लेता है यह सर्व विदित है। अतः यदि हम परिवार, समाज, राष्ट्र या जगत् में शांति चाहते हैं तो हमें अपनी वाणी के सदुपयोग का निरन्तर ध्यान रखना होगा, ज्ञान द्वारा वाणी की शक्ति को बढ़ाना होगा तथा परमेश्वर के भजन द्वारा अशान्त हृदयों को शांत करना होगा। यह अनुभव सिद्ध बात है कि भक्त गायक तथा प्रचारक अपनी मधुर भक्ति रस वर्षिणी वाणी से अशांत हृदयों में भी शांति का संचार करने में समर्थ होते हैं। इसी लिये सत्सङ्ग की इतनी महिमा मानी जाती है।

मन का उचित प्रयोग

दूसरे मन्त्र में शुद्ध मन के द्वारा शक्ति के प्रसार का उपदेश किया गया है। जिस विकार युक्त अपवित्र मन के द्वारा संसार में अनेक घोर अनर्थ होते हैं उस मन को परमेश्वर के चिंतन में लगाकर हमें शांत बनाना चाहिये, ब्रह्मज्ञान के द्वारा उसकी शक्ति को

बढ़ाना चाहिये । पिता-माता, स्त्री-पुरुष, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा सबको इस प्रकार अपने मन की पवित्रता का विशेषरूप से ध्यान रखना चाहिये, क्योंकि मन में अपवित्र विचार उठने से ही मनुष्य अशान्ति-कारक कार्यों में प्रवृत्त होता है। आजकल के बड़े २ राजनीतिज्ञों तथा अन्य नेताओं का इस ओर प्रायः कुछ भी ध्यान नहीं है। लोगों के मन में ईर्ष्या-द्वेष के भाव भरे रहते हैं इसीलिये शांति स्थापना के प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं।

इन्द्रियों का सदुपयोग

(३) आंख, नाक, कान, हाथ इत्यादि इन्द्रियों के दुरुपयोग के कारण भी संसार में बड़े घोर अनर्थ तथा उपद्रव होते हैं अतः उन सब इन्द्रियों को मन सहित पवित्र बनाने की आवश्यकता है। उनकी शक्ति को ज्ञान द्वारा बढ़ा कर जब अच्छे कार्यों में लगाया जाता है तभी शांति का प्रसार हो सकता है। प्रतिदिन आत्मनिरीक्षण करके मनुष्य को देखना चाहिए कि वह इन इन्द्रियों का सदुपयोग कर रहा है अथवा दुरुपयोग। रावणादि राक्षसों ने जब अपनी इन्द्रियों का तथा शारीरिक शक्ति का दुरुपयोग करके उसे सीता जी जैसी देवियों के अपहरण और ऋषि मुनियों को कष्ट देने में लगाया तो उसका कितना

भयङ्कर परिणाम हुआ यह सब जानते हैं।

इस प्रकार इन तीन वेद मन्त्रों में वाणी, मन और इन्द्रियों की शक्ति को ज्ञान द्वारा बढ़ा कर हम किस प्रकार सर्वत्र शांति को स्थापित कर सकते हैं इस बात का बहुत ही उत्तम उपदेश है।

अंत में वैदिक मार्ग पर चलने और वैदिक आदर्श का अनुसरण करने से ही संसार को स्वर्ग रूप बनाया जा सकता है इस बात को अनेक निष्पक्षपात पाश्चात्य विद्वानों ने भी किस प्रकार स्वीकार किया है इसे दिखाने के लिये निम्नलिखित उद्धरण आयर के सुप्रसिद्ध विद्वान्, तत्त्वज्ञानी और कवि डा० जेम्स कज़िन्स के Path to Peace नामक पुस्तक से देना चाहता हूँ। जेम्स कज़िन्स महोदय उस पुस्तक में वैदिक आदर्श का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं:—

"On that Vedic ideal alone with its inclusiveness which absorbs and annihilates the causes of antagonism, its sympathy which wins hatred away from itself, it is possible to rear a new earth in the image and likeness of the Eternal Heavens." (Path to Peace P. 60.)

अर्थात् उस वैदिक आदर्श का अनुसरण करके ही जो विरोध के कारणों को दूर करता और सहानुभूति द्वारा

घृणा को जीतना सिखाता है यह संभव है कि हम भूमि को स्वर्ग के रूप में परिणत कर सकें। डा० जेम्स स्वयम् इस वैदिक आदर्श से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपना नाम डा० जय राम रख लिया है। हम सब का कर्त्तव्य है कि वैदिक धर्म की शिक्षाओं को अपने जीवन में परिणत कर के समस्त जगत् में शांति के प्रसारार्थ सदा प्रयत्न करते रहें ॥

: ५ :

आश्रम व्यवस्था

मनुष्य की आयु की मध्यमा १०० वर्ष मानते हुए हमार पूर्वज आर्य ऋषियों ने वेदों के आदेशानुसार जीवन का चार आश्रमों में विभाग किया था जिनका नाम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास था।

जैसे कि महाभारत में कहा है : —

चतुष्पदी हि निःश्रेणी, ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता।
एतामारुह्य निःश्रेणीं, ब्रह्मलोके महीयते॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च, वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
यथोक्तचारिणः सर्वे, गच्छन्ति परमां गतिम्॥

महाभारत शान्ति पर्व अ० २४२

अर्थात् यह आश्रम-व्यवस्था रूपी चार पैरों वाली सीढ़ी है जो ब्रह्म की ओर क्रम से ले जाने वाली है। जो इस सीढ़ी पर चढ़ जाता है वह अन्त में ब्रह्मलोक वा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। ये चार आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास हैं।

पूर्णानन्द रूप मोक्ष की प्राप्ति को, जिसके विषय में

वेद 'यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।(ऋ०६।११३) इत्यादि सुन्दर शब्दों का प्रयोग करता है, जीवन का ध्येय बताते हुए भारतीय समाज शास्त्रियों ने इन चार आश्रमों का सीढ़ियों के रूप में वर्णित किया था। ब्रह्मचर्याश्रम में प्रत्येक व्यक्ति को गुरुकुलों के पवित्र वायु मण्डल में पितृ-तुल्य वीतराग आचार्य और मान्य उपाध्याय वर्ग की अधीनता में रह कर अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों को सम्पूर्णतया विकसित करने का स्वर्णीय अवसर प्राप्त होता था। नगरों से दूर प्रेममय शान्त कुटीरों में निवास करते हुए प्रत्येक ब्रह्मचारी को साङ्गोपाङ्ग वेदादि शास्त्रों तथा इतिहास, गणित, विज्ञानादि का अध्ययन करना होता था । ब्रह्म अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति तथा वेद के यथार्थ ज्ञान सम्पादन के लिये विशेष व्रत के कारण इस व्रत का नाम ब्रह्मचर्य रक्खा जाता था। इसके मुख्य ३ वर्ग माने जाते थे जिनका नाम क्रमशः वसु, रुद्र और आदित्य था। कम से कम २४ वर्ष की समाप्ति तक ब्रह्मचर्य का व्रत पालन करने वाले को वसु, ३६ वा ४४ वर्ष तक इस व्रत का पालन करने वालों को रुद्र और ४८ वर्षों तक पूर्ण ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन व्यतीत करने वालों को आदित्य ब्रह्मचारी के नाम से पुकारा जाता था। शारीरिक, वाचिक, मानसिक पवित्रता के साथ २

सम्पूर्ण आत्मसंयम यही ब्रह्मचर्य का सार है। उसके बिना मनुष्य की शक्तियों का पूर्ण विकास सर्वथा असम्भव है। इसीलिये सकाम भाव से स्त्रियों के दर्शन, स्पर्शन, एकान्त सेवन, भाषण, विषयकथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और सङ्ग इन अष्ट विध मैथुनों और सब सांसारिक चिन्ताओं से सर्वथा पृथक् रह कर पवित्र आत्मसंयम पूर्वक जीवन व्यतीत करना यह ब्रह्मचारियों का मुख्य धर्म माना गया है। जैसे कि शास्त्रों में कहा है :—

स्मरणं कीर्तनं केलिः, प्रेक्षणं गुह्य भाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च, क्रियानिर्वृतिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं, प्रवदन्ति मनीषिणः।
अष्टाङ्ग मैथुन त्यागो ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम् ॥

विद्यार्थी अवस्था में ही दो तीन बच्चों के पिता बन जाने वाले आजकल के युवक इस आदर्श पर कहां तक चल रहे हैं यह बताने की आवश्यकता नहीं। दिन रात विषयोत्तेजक, प्रायः शृङ्गार रस प्रधान काव्य, नाटक, उपन्यास पढ़ने वाले, खटाई, मिर्च तथा मसालेदार चीजों का अधिकता से उपयोग करने वाले, अश्लील सिनेमा व नाटक घरों में रात को गये बिना चैन न पाने वाले विद्यार्थी ही अधिकतर आजकल के स्कूलों और कालेजों में दिखाई देते हैं, जिन्हें ब्रह्मचर्य के विषय में ज़रा भी ज्ञान

नहीं होता और न इस विषय का ज्ञान देना अध्यापक वा उपाध्याय अपना कर्तव्य समझते हैं। यदि सौभाग्य वश किसी अध्यापक वा उपाध्याय को अपने इस कर्तव्य का कुछ ज्ञान होता है और वह इस प्रकार के ज्ञान को विद्यार्थियों के सन्मुख रखने का प्रयत्न करता है तो उसका उपहास करने वाले नवयुवकों की संख्या ही अधिक दिखाई देती है। पाठ्य पुस्तकों का चुनाव करते हुए इस बात का ज़रा भी ध्यान नहीं रक्खा जाता कि जिन ग्रन्थों के अध्ययन से विषयवासना उत्तेजित होती है उन्हें विद्यार्थियों को न पढ़ाया जाए। इस प्रकार ब्रह्मचर्य की परिपाटी नष्ट हो जाने का परिणाम यह हो रहा है कि हमारी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का ह्रास हो रहा है। भारतीयों की आयु की मध्यमा जो 'शतायुर्वै पुरुषः' इत्यादि वाक्यों के अनुसार प्राचीन काल में १०० वर्ष मानी जाती थी, जहां तीन चार सौ वर्ष की आयु वाले कितने ही महानुभाव होते थे अब केवल २३ के लगभग रह गई है। इससे बढ़कर शोचनीय दशा और क्या हो सकती है? इसलिये यदि मनुष्य समाज को पुनः सजीव और सबल बनाना है तो प्राचीन गुरुकुल शिक्षा-पद्धति को उचित सामयिक परिवर्तनों सहित पुनः प्रचलित करना चाहिये। स्थान २ पर ब्रह्मचर्याश्रम खुलने चाहियें।

विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य विषयक उपदेश दिये जाने चाहियें और गुरु वा उपाध्याय अध्यापकादि स्वयं ब्रह्मचारी अर्थात् गृहस्थाश्रमी होते हुए भी (यद्यपि प्राचीन आश्रम मर्यादा के अनुसार वे अधिकतर वानप्रस्थाश्रमी ही होंगे) पूर्ण सदाचारी, तपस्वी और संयमी होने चाहियें। कन्याओं को भी कम से कम १६ वर्षकी आयु तक ब्रह्मचर्य के नियमों का अवश्य पालन करना चाहिये और वेदादि सत्यशास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये जिससे वे अपने कर्तव्यों को समझने में समर्थ हो सकें।

गृहस्थाश्रम

वेदानुकूल शास्त्रीय मर्यादा यही है कि कम से कम २४ वर्ष तक प्रत्येक युवक और १६ वर्ष तक प्रत्येक कन्या ब्रह्मचर्य का पालन करके इसके पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। इसको शास्त्रकारों ने ज्येष्ठाश्रम बताते हुए इसकी महिमा का विशेष वर्णन किया है क्योंकि अन्न और धन द्वारा ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थों और संन्यासियों का पालन पोषण गृहस्थाश्रमी ही कर सकता है किन्तु साथ ही बताया है :—

स संधार्यः प्रयत्नेन, स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं, योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥

(मनुस्मृति अ० ३ श्लो० ७९)

अर्थात् जो अक्षय स्वर्ग और इस लोक के सुख की इच्छा करते हैं उन्हें प्रयत्न पूर्वक इस आश्रम के धर्मों का पालन करना चाहिये क्योंकि जो निर्बल इन्द्रियों वाले हैं वे कभी इसको भली भांति धारण नहीं कर सकते। इसमें सन्देह नहीं कि विशुद्ध प्रेम, स्वार्थ-त्याग, दूसरों के लिये कष्ट उठाना, सहानुभूति इत्यादि बातों का पाठ मनुष्य गृहस्थ आश्रम में रहते हुए ही अधिकतर सीख सकता है। जिन्होंने गृहस्थ-जीवन का अनुभव नहीं लिया उनमें से बहुतों के अन्दर (कुछ अपवादों को छोड़कर) इन गुणों का विकास प्रायः कम दिखाई देता है। स्वनामधन्य श्री स्वामी शङ्कराचार्य, श्री मध्वाचार्य, महर्षि दयानन्द सरस्वती आदि महानुभावों की गणना इन अपवादों में से है। गृहस्थ जिस विशेष प्रेम की दीक्षा गृहस्थ आश्रम में ग्रहण करता है उस के क्षेत्र को विस्तृत करते हुए वह आध्यात्मिक दृष्टि से भी अद्भुत अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

पर प्रश्न यह है कि गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश का ठीक समय प्राचीन भारतीय समाज शास्त्रियों ने कौनसा बताया है ? दुर्भाग्य से बालविवाह की पद्धति गत कई शताब्दियों से हमारे देश में प्रचलित हो गई है। किन्तु अपने प्राचीन धर्म-ग्रन्थों का अनुशीलन करने पर हमें स्पष्ट

विदित हो जाता है कि यह प्रथा वेदादि सत्य शास्त्रों की शिक्षा के सर्वथा विरुद्ध है। यहां इतना ही लिखना अभी पर्याप्त है कि:—

"सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा।
सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादाद् ॥

ऋ० १० । ८५ । ९

इस विवाह सूक्त के मन्त्र में स्पष्ट बताया गया है कि जब सौम्य गुण युक्त युवक वधू की कामना करता है और जब सूर्य समान वर्चस्विनी वधू पति की कामना करती है (पतिं शंसन्तीम्—पतिं कामयमानां पर्याप्त यौवनाम् इत्यर्थः—श्री सायणाचार्यः) तभी सविता—कन्या का पिता उसका विवाह करवाता है।

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्य मानाः परियन्त्यापः।

(ऋ० ५ । ३५ । ४

इस मन्त्र में वताया है कि जैसे नदियां समुद्र को पाकर मानो आनन्दित होती हैं ऐसे ही युवतियां युवक पतियों से विवाह करके सुख लाभ करती हैं।

वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति ॥ ऋ० ५ । ३७ । ३
एयमगन्पतिकामा, जनिकामोऽहमागमम् ॥
अ० २ । ३० । ५

इत्यादि सैंकड़ों मन्त्र वर-वधू को युवावस्था में परस्पर प्रेम-पूर्वक विवाह की स्पष्ट आज्ञा देते हैं।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ॥

अथर्व ६ । ११ । १८

इस सुप्रसिद्ध मन्त्र में यही विधान है कि कन्या ब्रह्मचर्य—वेदाध्ययनादि करके उसके पश्चात् अपने अनुकूल युवक पति को वरण करती अथवा उसे प्राप्त होती है। "उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्रजायस्व प्रजया पुत्र कामे।" (ऋ० १० । १८३ । ३) इत्यादि वेद मन्त्रों में भी कन्या के लिये युवति शब्द का स्पष्ट प्रयोग है। धर्म के विषय में स्वतः प्रमाण वेद ही हैं अतः इनके विरुद्ध वचन स्मृत्यादि में जहां कहीं भी दिखाई दें वे अमान्य हैं। गृहस्थ आश्रम में पति-पत्नी को परस्पर पूर्ण विश्वास और प्रेम से व्यवहार करना चाहिये तथा आत्मसंयम पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए धार्मिक, विद्वान् तथा वीर सन्तान उत्पन्न करनी चाहिए। पति-पत्नी को सदा यही समझना चाहिये कि वे एक शरीर के मानो दो भाग हैं। उनमें कभी परस्पर कलह न होना चाहिये। दोनों को मिलकर पञ्चमहायज्ञादि धर्मकार्यों का अनुष्ठान प्रेम पूर्वक करना चाहिए।

लगभग २५ वर्ष तक गृहस्थाश्रम का अनुभव लेकर और उसके द्वारा शुद्ध प्रेम, दया, सहानुभूति, स्वार्थ-त्याग आदि का पाठ सीखकर प्रत्येक द्विज के लिये वानप्रस्थ बनने का शास्त्रों ने वेदानुसार विधान किया है।

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् बली पलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं, तदारण्यं समाश्रयेत् ॥मनु

इसके अनुसार लगभग ५१ वर्ष की आयु में प्राचीन आर्य वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश किया करते थे।

पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ॥
मनु० ६ । ३ ॥

इस मनु-वचनानुसार वानप्रस्थाश्रम में पत्नी को साथ रखा जा सकता है किन्तु विषय भोग से सर्वथा निवृत्त होकर श्रद्धापूर्वक धर्माचरण विशेषतः योग साधन द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये प्रयत्न उस में आवश्यक था। उस के साथ वनों में गुरुकुल स्थापित करके वानप्रस्थी लोग शिष्य जनों को निःस्वार्थ-भाव से वेद, वेदाङ्ग, विज्ञान, इतिहासादि की शिक्षा दिया करते थे। धन का लोभ छोड़ कर तपस्या का जीवन व्यतीत करते हुए वे शिष्यों को अपने पुत्र तुल्य समझते थे। ऐसे ही वानप्रस्थी तत्त्वदर्शन होने के कारण ऋषि कहलाते थे। उपनिषदें तथा

दर्शन शास्त्र उन्हीं ऋषियों की अद्भुत बुद्धि का परिणाम है। जीवन की कठिन से कठिन समस्याओं की वे शान्ति-भाव से विवेचना करते और अपने अनुभव द्वारा शिष्यों तथा अन्य जिज्ञासुओं को अनुगृहीत करते थे। वानप्रस्थी योग साधन के अतिरिक्त सार्वजनिक कार्यों में अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। अतः कभी स्वार्थ-त्यागी कार्यकर्ताओं की कमी अनुभव न होती थी। यह खेद की बात है कि अब इस आश्रम की प्रणाली लुप्तप्राय हो गई है। जो लोग अपने को वैदिक धर्मी कहते हैं उन में से भी बहुतेरे जीवनान्त तक वकालत, व्यापारादि में लगे रहकर धन की तृष्णा और सांसारिक मोह जाल में फँसे रहते हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि गुरुकुल, अनाथालय इत्यादि सर्वजनिक संस्थाओं के लिये योग्य, सदाचारी, संयमी और त्यागी कार्यकर्ताओं की कमी सर्वत्र दिखाई देती है जिस के कारण ये संस्थाएं अपने उद्देश्य की पूर्ति में समर्थ नहीं हो पातीं। कई बार ऐसे स्वार्थी और असंयमी पुरुष इन संस्थाओं में घुस आते हैं जो सारे पवित्र वायुमण्डल को बिगाड़ देते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि अपने अन्दर धन कमाने और अन्य लौकिक धन्धे करने की शक्ति न रखते हुए भी लोग घरों में भारभूत होकर सारी आयु अशांति में बिता

देते हैं किन्तु प्राचीन आदर्शप्रणाली के अनुसार शांति प्राप्त करके जनता की सेवा करना अपना कर्त्तव्य नहीं समझते।

संन्यासाश्रम

अन्तिम आश्रम जिस में प्रवेश का अवसर केवल गुण कर्म स्वभाव से ब्राह्मणों को ही दिया जाता था संन्यासाश्रम के नाम से कहा जाता था। इस में प्रवेश के समय प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिज्ञा और घोषणा करनी पड़ती थी कि :—

पुत्रैषणा वित्तैषणा मया परित्यक्ता मत्तः सर्व भूतेभ्योऽभयमस्तु स्वाहा।

अर्थात् आज से मैंने पुत्र विषयक, धन विषयक और लोक विषयक (प्रशंसा वा कीर्ति आद्यर्थ आतुरता) कामना का सर्वथा परित्याग कर दिया है। मेरे द्वारा सब प्राणियों को निर्भयता प्राप्त होवे। मैं सब प्रकार के स्वार्थ का परित्याग करता हूँ।

इस प्रकार का पवित्र व्रत लेकर संन्यासी लोग निःस्वार्थ भाव से केवल लोकोपकारार्थ देश-देशांतरों में जाकर धर्म-प्रचार किया करते थे स्वयं ब्रह्मज्ञानी और सर्व शांत होते हुए वे अशान्त, भटकते हुए लोगों के अज्ञानान्धकार को दूर करते हुए उनके हृदयों को ज्ञान-दीप्ति से देदीप्यमान करते थे। आश्रममर्यादानुसार गृहस्थ

के अनुभव के कारण उनके अन्दर सच्चा प्रेम और वानप्रस्थ के अनुभव के कारण सच्ची शान्ति का वास होता था जिससे वे सर्वत्र विशुद्ध प्रेम और शांति का साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ होते थे। राजा महाराजाओं के दोषों को भी वे निर्भय होकर कह सकते थे। वर्तमान युग में भी शङ्कराचार्य जी, श्री रामानुजाचार्य, श्री आनन्द तीर्थ (श्री मध्वाचार्य) यतिवर्य ऋषि दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द जी, स्वामी रामतीर्थ इत्यादि ने संन्यासियों के प्राचीन आदर्श को क्रियात्मक रूप देकर भारतमाता का मुख उज्ज्वल किया है। योग्य ब्राह्मण (गुण कर्म स्वभावानुसार) यदि संन्यासाश्रम में प्रवेश की प्रणाली को फिर से प्रचलित कर दें तो धर्म प्रचार, शुद्धि, दलितोद्धारादि कार्य अब की अपेक्षा सौगुने वेग से होने लग जाएं इस में कोई सन्देह नहीं। इस प्रकार इस आश्रम व्यवस्था के प्रचलित होने से मनुष्य-मात्र का जो कल्याण हो सकता है उसका हम ने संक्षेप से निरूपण किया है। वेदानुयायी सब सज्जनों को इसे अवश्य ही क्रियात्मक रूप देना चाहिये ॥

: ६ :

वैदिक धर्मोद्धारक श्रद्धेय महर्षि दयानन्द

वैदिक धर्मोद्धारक शिरोमणि आदर्श समाज सुधारक परम श्रद्धेय महर्षि दयानन्द बड़े उदार विचारों के सुधारक थे। उनमें साम्प्रदायिक द्वेष वा संकीर्णता का लवलेश भी न था। इसीलिये सब जातियों के उदार विद्वान् उनका मान करते थे। अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के संस्थापक सर सय्यद अहमद खाँ ने महर्षि दयानन्द जी के बलिदान के ठीक पश्चात् ६ नवम्बर सन् १८८३ के अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट मैगज़ीन में लिखा था कि—'निहायत अफ़सोस की बात है कि स्वामी दयानन्द साहब ने जो संस्कृत के बड़े आलम और वेद के बहुत बड़े मुहक्किक थे ३० अक्टूबर को ७ बजे शाम के अजमेर में इन्तकाल किया। इलावा इल्मोफजल के निहायत नेक और दरवेश सिफ्त आदमी थे। इनके मोहतकिद इनको देवता मानते थे और बेशक वे इसी लायक थे। वे सिर्फ ज्योतिस्वरूप निराकार के सिवा दूसरे की पूजा जायज़ नहीं रखते थे।

हमसे और स्वामी दयानन्द मरहूम से बहुत मुलाकात थी। हम हमेशा इनका निहायत अदब करते थे कि हरेक मज़हब वाले को इनका अदब लाजिम था। बहर हाल ऐसे शख्स थे जिनका मसल इस वक्त हिन्दुस्तान में नहीं है। और हरेक शख्स को उनकी वफात का गम करना लाज़मी है कि ऐसा बेनज़ीर शख्स इनके दरमियान से जाता रहा।

सर सय्यद अहमद खां जैसे सुप्रसिद्ध मुस्लिम नेता की ओर से ऐसी श्रद्धांजलि अर्पित की जानी महर्षि की असाम्प्रदायिकता का ज्वलन्त प्रमाण है। महर्षि दयानन्द का वैयक्तिक जीवन बहुत ही उच्च कोटि का था। साथ ही वे बड़े कर्मयोगी सुधारक थे। जाति भेद और अस्पृश्यता आदि बुराइयों को दूर करने का उन्होंने घोर परिश्रम किया। स्त्रियों की शोचनीय अवस्था को दूर करने के लिये भी उनका परिश्रम बड़ा प्रशंसनीय था। इस विषय में जगद्विख्यात विचारक श्री रोमा रोलां ने ठीक ही लिखा है कि "ऋषि दयानन्द ने भारत के शक्ति शून्य शरीर में अपनी अजेय शक्ति, अविचल कर्मण्यता तथा सिंह जैसे पराक्रम फूंक दिये। स्वामी दयानन्द उच्चतम व्यक्तित्व के पुरुष थे। कर्मयोगी, विचारक और नेता के उपयुक्त प्रतिभा ये सभी प्रकार के दुर्लभ गुण उनमें थे।" आगे उन्होंने लिखा है "स्वामी दयानन्द ने अस्पृश्यता के अन्याय को

सहन नहीं किया। उनसे अधिक अस्पृश्यों के अपहृत अधिकारों का उत्साही समर्थक दूसरा कोई नहीं हुआ। भारत में स्त्रियों की शोचनीय दशा को सुधारने में भी दयानन्द ने बड़ी उदारता वा साहस से काम लिया। वास्तव में राष्ट्रीय भावना और जनजागृति के विचार को क्रियात्मक रूप देने में सब से अधिक प्रबल शक्ति उन्हीं की थी। वे पुनर्निर्माण और राष्ट्र संगठन के अत्यन्त उत्साही पैगम्बरों में से थे।"

Dayananda transfused into the languid body of India his own formidable energy, his certainty, his lion's blood............ ....
Dayananda Saraswati was a personality of the highest order. This man with the nature of a lion is one of those whom Europe is too apt to forget when she judges India, but whom she will probably be forced to remember to her cost' for he was the rare combination, a thinker of action with a genius of leadership.

(Life of Rama Krishna P. 146)

"Dayananda would not tolerate abominable injustice of the existence of untouchables and no body has been a more ardent Champion of their outraged rights......... ....
"Dayananda was no less generous and no less

महर्षि दयानन्द ने सोते हुए भारतवासियों को जगाया। अन्धकार में ठोकरें खाते हुओं को मार्ग दिखाया। अज्ञान को दूर करके ज्ञान की ज्योति को जगाया। इस प्रकार वे सच्चे मार्गदर्शक गुरु थे। नोबल पुरस्कार विजेता जगत् प्रसिद्ध कवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने महर्षि दयानन्द को गुरु रूप में स्मरण किया। उन्होंने अपनी श्रद्धांजलि इन स्वर्णीय शब्दों में अर्पित की है—"मेरा प्रणाम हो उस महान् गुरु दयानन्द को जिसकी दृष्टि ने भारत के आध्यात्मिक इतिहास में सत्य और एकता को देखा। जिसके मन ने भारतीय जीवन के सब अंगों को प्रदीप्त

---

bold in his crusade to improve the condition of women, a deplorable one in India. I have said enough about this Sanyasi with the soul of a leader to show how great an uplifter of the peoples he was, in fact the most vigorous force of the immediate and present action in India, at the moment of the rebirth and re-awakening of the national consciousness. He was one of the most ardent prophets of re-construction and of national organisation. I feel that it was he who kept the vigil."

(Life of Rama Krishna by Roman Rolland
P. 164)

कर दिया। जिस गुरु का उद्देश्य भारतवर्ष को अविद्या, आलस्य और प्राचीन ऐतिहासिक तत्व के अज्ञान से मुक्त कर सत्य और पवित्रता की जागृति में लाना था, उसे मेरा बारम्बार प्रणाम है।"

"मैं आधुनिक भारत के मार्गदर्शक उस दयानन्द को आदरपूर्वक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ कि जिसने देश

Dr. Rabindranath Tagore's tribute :—

"I offer my homage of veneration to Swami Dayananda, the great Path maker in modern India, who through bewildering tangles of creeds and practices, the dense under growth of the degenerate days of our country, cleared a straight path that was meant to lead the Hindus to a simple and rational life of devotion to God and service for man."

My reverence to the great teacher Dayananda whose vision found unity and truth in India's spiritual history, whose mind luminously comprehended all departments of India's life ; whose call to India is the call of awakening to truth and purity from inertness of unreason and ignorance of the meaning of our past."

की पतितावस्था में भी हिन्दुओं को प्रभु की भक्ति और मानव समाज की सेवा के सीधे वा सच्चे मार्ग का दिग्दर्शन कराया।"

महर्षि दयानन्द आदर्श ब्रह्मचारी थे। उन्होंने पूर्ण पवित्रता और क्रियात्मक सुधार का उत्तम आदर्श समस्त जनता के समक्ष रखा जिसने सब को प्रभावित किया।" महात्मा गान्धी जी ने महर्षि दयानन्द के विषय में लिखा है—

"महर्षि दयानन्द के लिए मेरा मन्तव्य यह है कि वे हिन्द के आधुनिक ऋषियों में, सुधारकों में, श्रेष्ठ पुरुषों में से एक थे। उनका ब्रह्मचर्य, उनकी विचार स्वतन्त्रता, उनका सब के प्रति प्रेम, उनकी कार्य-कुशलतादि गुण सब को मुग्ध करते थे। उनके जीवन का प्रभाव हिन्दुस्तान पर बहुत ही पड़ा है।"

आदर्श योगी

महर्षि दयानन्द अपने समय के सब से बड़े योगी थे। उनका स्थान संसार के सर्वोच्च योगियों और विद्वानों में है। उनकी शक्ति अद्भुत थी। उनका हृदय बड़ा विशाल था। श्री अरविंद जो इस समय जगत् के सब से बड़े योगी माने जाते थे, उन्होंने महर्षि दयानन्द के पवित्र चरित्र

का चित्रण इन शब्दों में किया—

"दयानन्द दिव्य-ज्ञान का सच्चा सैनिक तथा विश्व को प्रभु की शरण में लाने वाला योद्धा था। वह मनुष्यों और संस्थाओं का शिल्पी तथा प्रकृति द्वारा आत्मा के मार्ग में उपस्थित की जाने वाली बाधाओं का वीर विजेता था। उसके व्यक्तित्व की व्याख्या यों की जा सकती है—

"एक मनुष्य जिसकी आत्मा में परमात्मा है, चक्षुओं में दिव्य तेज है और हाथों में इतनी शक्ति है कि जीवन-तत्व से अभीष्ट स्वरूप वाली मूर्ति घड़ सके तथा कल्पना

Yogi Shri Aurobindo's tribute to Rishi Dayananda :—

"He was a very soldier of light, a warrior in God's world, a sculptor of men and institutions, a bold and rugged victor of the difficulties 'which matter presents to spirit. And the whole sums itself up to me in a powerful impression of spiritual practicality. The combination of these two words, usually so divorced from each other in our conceptions, seems to me the very definition of Dayananda .... This was what he himself was, a man with God in his soul, vision in his eyes and power in his hands to hew out of life an image according to his vision."

को क्रिया में परिणत कर सके। वे स्वयं दृढ़ चट्टान थे। उनमें दृढ़ शक्ति थी कि चट्टान पर घन चला कर पदार्थों को सुदृढ़ व सुडौल बना सकें।"

नवभारत के निर्माता

महर्षि दयानन्द का नाम नवीन भारत के निर्माताओं में सदा आदर से लिया जाएगा। उन्होंने केवल धार्मिक और सामाजिक जागृति ही जनता में उत्पन्न न की बल्कि स्वराज्य का महत्त्व भी अपने देशवासियों के सन्मुख स्पष्ट शब्दों में रखते हुए मर्म वेदना के साथ अपने अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखा—

'अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या करनी, किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखंड, स्वतंत्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ भी है सो भी विदेशियों के पादाक्रांत हो रहा है। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता पिता के समान

कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है। परंतु भिन्न २ भाषा, पृथक् २ शिक्षा, अलग २ व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। बिना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है। (सत्यार्थप्रकाश ८ म. समु.)

आर्यभाषा (हिंदी) को राष्ट्रभाषा बनाना, गोवध निषेधादि विषक उत्तम आंदोलनों के प्रवर्तक महर्षि दयानंद ही थे। राष्ट्रीय महासभा के सुयोग्य अध्यक्ष श्रद्धेय राजर्षि पुरुषोत्तमदास जी ने गत ७ अक्टूबर को आर्य समाज चौक में ठीक ही कहा कि "मैं स्वामी दयानंद जी को साम्प्रदायिक नहीं मानता। मेरे विचार में वे महान् थे। उनका धर्म विस्तृत था। मैं उनको राजनैतिक पुरुष भी मानता हूँ।" ऐसे परम श्रद्धेय महर्षि दयानंद को हमारा सादर प्रणाम हो।

: ७ :

वर्णव्यवस्था

वैदिक धर्म के मुख्य तत्त्वों में से एक मनुष्य समाज का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों में विभाग है। वर्ण तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये शब्द ही इस बात को स्पष्ट करते हैं कि वेदादि सत्यशास्त्रों में प्रतिपादित वर्णव्यवस्था का आधार गुण कर्म स्वभाव पर है न कि जन्म पर। वर्ण शब्द वृञ् वरणे इस धातु से बनता है जिसका अर्थ 'व्रियते गुणकर्म स्वभावादिभिरितिवर्णः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह है कि गुण, कर्म, स्वभावादि के आधार पर जिसका वरण वा चुनाव किया जाए। 'वर्णो वृणोतेः' यह कह कर निरुक्तकार यास्काचार्यजी ने इसी भाव का प्रतिपादन किया है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये शब्द भी वर्णव्यवस्था के गुणकर्मानुसार होने को सूचित करते हैं।

उदाहरणार्थ—

ब्राह्मण शब्द ब्रह्म शब्द से तदधीते तद्वेद (अष्टाध्यायी ४। २। ५९ के अनुसार अण् प्रत्यय करने पर

बनता है। ब्रह्म के अर्थ परमेश्वर और वेद के होते हैं अतः ब्राह्मण का अर्थ परमेश्वर को जानने वाला और वेद को जानने वा उसका विशेष अध्ययन करने वाला यह सर्वथा स्पष्ट है। विद्याभूषणादि अनेक उपाधियों से विभूषित पण्डित प्रवर वैद्यरत्न श्री श्यामनारायण चतुर्वेदी ने 'सन्ध्याभाष्यम्' में—

ब्राह्मणं अभ्यावर्ते, ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मण-वर्चसम् (अथर्ववेद का० १० सू० ५–४१) इस वेद-मन्त्र की व्याख्या में ठीक ही लिखा है कि—

"ब्रह्म वेदं शुद्धं चैतन्यं वा वेत्ति–अधीते वा 'तदधीते तद्वेद' (पाणिनीय सूत्र ४ । २ । ५६) इत्यण् ।"

(सन्ध्या भाष्यम् पृ० २३७)

'ब्रह्म जानीति ब्राह्मणः' यह आर्ष वचन सुप्रसिद्ध है जिसका आधार ब्राह्मण शब्द की उपर्युक्त व्युत्पत्ति और वेदमन्त्रों पर है जैसे कि "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः" (ऋ० १ । १६४ । ४५) में 'ब्राह्मणाः' का अर्थ श्री सायणाचार्य ने भी अपने भाष्य में ब्राह्मणाः–वेदविदः–मनीषिणः—

सन्ध्याभाष्यम्—पण्डितप्रवर वैद्यरत्न श्री श्यामनारायण चतुर्वेद-महोदयैर्विरचितम् विद्यासागर विद्यालङ्कार प्रधानाचार्यतर्कालङ्कार प्रभृत्यनेक पदवीसमलङ्कृतैर्महामहोपाध्याय पं० श्री हरिहर कृपालु द्विवेदिभिः संशोधितम् —हित चिन्तक प्रेस गाय घाट बनारस संवत् १९६८)

ब्राह्मणाः—वाच्यस्य शब्दब्रह्मणः अधिगन्तारो योगिनः
अथवा ब्राह्मणाः—प्रकृति प्रत्ययादि विभागज्ञाः योगविदः,

इत्यादि किया है जिससे स्पष्ट है कि वेद जानने वाले, बुद्धिमान् मेधासम्पन्न योगियों को ब्राह्मण कहते हैं।

"जन्मना जायते शूद्रः कर्मणा जायते द्विजः। वेदाभ्यासेन विप्रः स्याद् ब्रह्मविद् ब्राह्मणो भवेत् ॥"

यह महाभारत का वचन है। ऐसा वीर शैव सदाचार संग्रह नामक पुस्तक के सप्तम प्रकरण में स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। श्री विद्यारण्यकृत 'शङ्कर दिग्विजय' के सर्ग १५ पृ० ५३६ (आनन्दाश्रम पूना संस्करण) पर श्री शङ्कराचार्य जी की वैष्णवों के प्रति निम्न उक्ति पाई जाती है : —

जन्मना जायते शूद्रः, कर्मणा जायते द्विजः।
नित्यं सन्ध्यामुपासीत, प्रत्यावाय्यन्यथा भवेत् ॥
इत्यादि श्रुतिवाक्यानि, नित्यं कर्म स्तुवन्ति हि।
अतः सर्वैः श्रुतिप्रोक्तं, कर्तव्यं कर्म सर्वदा ॥
वैधस्य तस्य सन्त्यागाद् दुःखस्याप्तिं मनुर्जगौ ॥
यतीनामपि कर्मास्ति, स्नान देवार्चनादिकम्।
ब्राह्मण्य हानिरेवातो भ्रष्टानां स्वीयकर्मतः ॥

अर्थात् जन्म से मनुष्य शूद्र होता है, कर्म से ही द्विज बनता है। इसलिये प्रत्येक द्विज को सन्ध्योपासना अवश्य करनी चाहिए अन्यथा वह पापी बनता है। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः" इत्यादि श्रुति वाक्य कर्म की ही प्रशंसा करते हैं अतः जो ब्राह्मण कुलोत्पन्न होकर भी अपने कर्म का परित्याग कर देते हैं उनका ब्राह्मणत्व भी नष्ट हो जाता है—वे ब्राह्मण कहलाने के अधिकारी नहीं रहते, इसलिये सबको—संन्यासियों को भी वेदोक्त कर्म अवश्य करने ही चाहियें।

ब्राह्मण की तरह क्षत्रिय शब्द भी गुण सूचक है क्योंकि उसका अर्थ क्षत अर्थात् आक्रमण व आपत्ति से त्राण व रक्षा करने वाले का है। इसी अर्थ को लेकर आधुनिक कविकुल शिरोमणि कालिदास ने रघुवंश में कहा है कि :—

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः, क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः॥ सर्ग २

अर्थात् क्षत वा आपत्ति अथवा आक्रमण से रक्षा करने के कारण वीर के लिये क्षत्र वा क्षत्रिय शब्द प्रचलित हैं। महाभारत शान्तिपर्व अ० १८९ में भारद्वाज के प्रश्न के उत्तर में भृगु ने वर्णव्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए क्षत्रिय के लिए यही बताया है कि—

क्षत्रजं सेवते कर्म, वेदाध्ययन संगतः ।
दानादानरतिर्यस्तु, स व क्षत्रिय उच्यते ॥
(शान्ति पर्व १८९ । ४)

अर्थात् जो वेदाध्ययन से युक्त होकर आक्रमण व आपत्तियों से समाज व राष्ट्र की रक्षा का शक्तियुक्त कार्य करता और दानादि में तत्पर रहता है वह क्षत्रिय कहलाता है । इसी प्रसङ्ग में "ब्राह्मणः केन भवति" अर्थात् किन गुणों से मनुष्य ब्राह्मण बनता है इस भरद्वाज के प्रश्न का उत्तर देते हुए भृगु ने बताया है कि—

सत्यं दानमथाद्रोहः, आनृशंस्यं त्रपा घृणा ।
तपश्च दृश्यते यत्र, स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥
(शान्ति पर्व १८९ । १)

अर्थात् सत्य, दान, अद्रोह (अहिंसा) अक्रूरता, बुरे कार्यों के करने में लज्जा, दया और तप जहां दिखाई दें उसे ब्राह्मण कहा जाता है ।

वैश्य शब्द भी विश–प्रवेशे इस धातु से बनता और जो व्यापारादि के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान में प्रवेश करे इस अर्थ का वाचक होने के कारण गुण सूचक है । महाभारत शान्ति पर्व के प्रकरण में भृगु ने वैश्य के विषय में शब्दार्थ का निर्देश करते हुए कहा है कि :—

विशत्याशु पशुभ्यश्च, कृष्यादान रतिः शुचिः ।
वेदाध्ययन सम्पन्नः, स वैश्य इति संज्ञितः ॥

अर्थात् जो वेदाध्ययन सम्पन्न होकर व्यापार के लिए इधर उधर जाता, पशु रक्षण व कृषि आदि करता तथा पवित्र है वह वैश्य कहाता है।

शूद्र शब्द भी गुण वाचक ही है जो शु द्रवति अथवा शुचाद्रवति इन व्युत्पत्तियों के अनुसार बनता है और जिसका शब्दार्थ सेवा के लिये शीघ्र इधर उधर दौड़ने वाला तथा वेदादि शास्त्रों का ज्ञान मुझे मन्दबुद्धिता के कारण प्राप्त नहीं हो सका इस शोक से द्रवित होने वाला होता है। महाभारत के उपर्युक्त प्रकरण में शूद्र के विषय में यही बतलाया गया है कि : —

सर्वभक्षरतिर्नित्यं, सर्वकर्मकरोऽशुचिः।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः, स शूद्र इति संज्ञितः॥

अर्थात् शूद्र वह कहाता है जो सर्व प्रकार के (निषिद्ध पदार्थों के भी) भक्षण में तत्पर है, सब प्रकार के काम करने वाला है, अपवित्र है, वेद का जिसने स्वयं परित्याग कर दिया है तथा जो उच्च आचार सम्पन्न नहीं है।

इस प्रकार यदि इस विषय में जो स्पष्ट प्रमाण वेदादि सत्य-शास्त्रों में पाये जाते हैं उनका विस्तृत विवेचन न किया जाए तो भी इन शब्दों ही के आधार पर यह बात निस्सन्देह कही जा सकती है कि वेदादि सत्य शास्त्र

प्रतिपादित वर्ण व्यवस्था का आधार गुण-कर्म-स्वभाव पर है जन्म पर नहीं। ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृतः। ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ इस सुप्रसिद्ध मंत्र के अंदर जो ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्व वेद में पाया जाता है, मनुष्य समाज की एक व्यक्ति के शरीर के साथ तुलना करते हुए समाज के आदर्श संघटन का जो निर्देश किया गया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वेद कहता है कि यदि सच्चे ब्राह्मण का तुम आदर्श जानना चाहते हो तो अपने मुख भाग की ओर देखो। इस मुख भाग के अंदर आंख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं और कर्मेन्द्रियों में से एक वाणी है जो इस भाग में पाई जाती है। सारे अवयवों में यदि सब से अधिक स्वार्थरहित और तपस्वी कोई अवयव है तो यह मुख ही है। सर्दियों में जब कि सारे अवयवों को खूब अच्छी तरह से ढाँक लिया जाता है तब भी यह मुख का भाग नंगा ही रहता है। इसके अंदर कितने ही स्वादु पदार्थ क्यों न डाले जाएं यह अपने लिये कुछ न रख कर सारे शरीर में रुधिरादि द्वारा पहुँचा देता है। इसी प्रकार समाज में जो पुरुष सम्पूर्ण ज्ञान का संग्रह करके वाणी द्वारा उसका प्रचार करते हैं, जो तपस्वी और स्वार्थ रहित हैं वही सच्चे ब्राह्मण हो सकते हैं।

जिन के अन्दर ये गुण नहीं पाये जाते वे कितने भी ऊंचे कुल में क्यों न पैदा हुए हों ब्राह्मण कहलाने के अधिकारी नहीं। बाहू राजन्य कृतः ॥ इस मंत्र भाग में क्षत्रियों की शरीर के बाहु भाग के साथ तुलना की गई है। शरीर में भुजाओं का काम सारे शरीर की बाह्य और आन्तरिक आक्रमणों से रक्षा करना है। जब कभी कोई शत्रु हमें मारने के लिए उपस्थित होता है तो ये हाथ हैं जो आत्मरक्षार्थ आगे बढ़ते हैं। इसी तरह यदि कहीं पैर में वा दूसरी जगह कांटा लग जाता है तो उसे निकालने का काम ये हाथ ही करते हैं। सारे शरीर में सब से अधिक फुर्तीलापन हाथ के भाग में ही पाया जाता है। उसी तरह जो लोग मनुष्य समाज वा राष्ट्र की आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं के आक्रमणों से रक्षा करते हैं वही शूर वीर, फुर्तीले क्रिया-शील पुरुष क्षत्रिय कहाते हैं। भीरु निर्बल, आलसी पुरुष वस्तुतः कभी क्षत्रिय नहीं कहला सकते चाहे वे कितने ही ऊंचे क्षत्रिय कुल में क्यों न पैदा हुए हों। इसी लिये मनुस्मृति (१।८९) और भगवद्-गीता (१८ । ४३) के सुप्रसिद्ध—

प्रजानां रक्षणं दानम्, इज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च, क्षत्रियस्य समासतः॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं, युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च, क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

इत्यादि श्लोकों के आधार पर जिन में प्रजाओं के रक्षण, दान, यज्ञ, वेदाध्ययन, विषयों में अनासक्ति, शूरता, तेज, धैर्य, कार्यकुशलता, युद्ध में पीठ न दिखाना, दान, ईश्वरभाव (शासन) इन्हें क्षत्रियों के लिए आवश्यक गुण कर्म बताया गया है। शुक्राचार्य ने अपने नीति ग्रन्थ में ठीक ही कहा है :—

लोक संरक्षणे दक्षः, शूरो दान्तः पराक्रमी ।
दुष्ट निग्रह शीलो यः, स वै क्षत्रिय उच्यते ॥

अर्थात् जो लोक की रक्षा में चतुर हो, शूर, आत्म-संयमी, पराक्रमी और दुष्टों को दबाने में समर्थ हो वही क्षत्रिय कहाता है

वैश्य के विषय में ऋग्वेद कहता है "ऊरू तदस्य यद् वश्यः" जिसका अथर्व वेद में 'मध्यं तदस्य यद् वैश्यः' ऐसा पाठ है जिसका तात्पर्य यह है कि शरीर में मध्य भाग अर्थात् पेट से जङ्घा तक के भाग का जो कार्य है, समाज में वही कार्य करने वाले वैश्य होते हैं। शरीर का यह भाग अन्य सब भागों की अपेक्षा अधिक आराम चाहने वाला अथवा भोग-प्रिय है। अन्न इत्यादि का संचय भी यही करता है। भोजन का परिपाक कर के रुधिरादि रूप में उसे परिणत करके यही भाग फेफड़ों इत्यादि में उसे भेजता है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना जङ्घाओं के बिना

असम्भव होता है। इसी तरह जो पुरुष अत्युच्च ज्ञान से सम्पन्न नहीं होते किन्तु जो धर्म युक्त साधनों से धनका संग्रह करके ब्राह्मणों, क्षत्रियों और शूद्रों के उपयोग के लिये उसका उचित विभाग कर देते हैं, जो व्यापारादि के लिए इधर उधर जाते हैं वे वैश्य कहाते हैं। उनके विषय में वेद तथा मनुस्मृति आदि के आधार पर शुक्राचार्य ने कहा है कि:-

क्रय विक्रय कुशला ये, सततं पण्य जीविनः।
पशु रक्षाः कृषिकरास्ते वैश्याः कीर्तिता भुवि॥

शुक्रनीति १।४२

अर्थात् जो क्रय-विक्रय (खरीदने और बेचने) में कुशल हैं, जो निरन्तर व्यापार द्वारा अपनी जीविका करने वाले हैं, जो पशुओं की रक्षा और कृषि के काम में तत्पर हैं उन्हें संसार में वैश्य के नाम से कहा जाता है।

शूद्रों के विषय में वेद में कहा है कि "पद्भ्यां शूद्रो अजायत" अर्थात् शरीर में पैर जिस प्रकार सारे अङ्गों की सेवा करते हैं इसी प्रकार जो ईर्ष्या, द्वेष रहित होकर प्रेम से द्विजों की सेवा करते हैं 'तपसे शूद्रम्' इस वेद वचन के अनुसार जो तपस्वी हैं क्योंकि तप के बिना कोई वास्तविक सेवा नहीं कर सकता वे शूद्र हैं। श्री कृष्ण महाराज ने भगवद् गीता में परिचर्यात्मकं कर्म, शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

(गीता १८।४४)

यह कहकर शूद्रों का सेवात्मक कार्य उनके स्वाभावानुसार बताया है क्योंकि मन्द बुद्धि के कारण उनमें उच्च कार्य करने की योग्यता नहीं होती। शुक्राचार्य ने अपने नीति-ग्रन्थ में इस विषय में लिखा है किः—

द्विजसेवार्चनरताः, शूराः शांता जितेन्द्रियाः।
सीर काष्ठ तृणवहास्ते नीचाः शूद्र संज्ञकाः॥
(शुक्रनीति १। ४३)

अर्थात् जो द्विजों की सेवा में तत्पर, शूर, शांत, जितेन्द्रिय और हल, लकड़ी, घास इत्यादि को उठाने वाले बुद्धि, योग्यता आदि में अन्यों से हीन हों वे शूद्र कहलाते हैं।

इस प्रकार हम ने संक्षेप से वेदादि सत्य शास्त्रोक्त वर्ण व्यवस्था का स्वरूप बताया है। इसका आधार गुणकर्म स्वभाव पर है न कि जन्म पर इस बात को सिद्ध करने के लिये

योऽनधीत्य द्विजो वेदम्, अन्यत्र कुरुते श्रमम्।
सजीवन्नेव शूद्रत्वम्, आशु गच्छति सान्वयः॥ मनु० २।१६८
शूद्रो ब्राह्मणतामेति, ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु, विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ मनु० १०। ६५
न जात्या ब्राह्मणश्चात्र, क्षत्रियो वैश्य एव न।
न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः॥
शुक्रनीति १। ३८

न योनिर्नापिसंस्कारो न श्रुतं न च सन्ततिः ।
कारणानि द्विजत्वस्य, वृत्तमेव तु कारणम् ।
वृत्ते स्थितश्च शूद्रोपि, ब्राह्मणत्वं स गच्छति ॥

महाभारत अनुशासनपर्व अ० १४३ । ५०–५१

न कुलेन न जात्या वा क्रियाभिर्ब्राह्मणो भवेत् ।
चण्डालोऽपिहि वृत्तस्थो ब्राह्मणः स युधिष्ठिर ॥

अनुशासनपर्व अ० २१६

इत्यादि सैंकड़ों शास्त्रीय वचनों को उद्धृत किया जा सकता है जिनमें स्पष्ट बताया गया है कि जो ब्राह्मण कुलोत्पन्न होकर भी वेदों का अध्ययन न करके अन्य विषयों में तत्पर रहता है वह इसी जन्म में शूद्र बन जाता है।

शूद्रकुलोत्पन्न पुरुष भी ब्राह्मणोचित ज्ञान, तप, सदाचारादि गुणों को धारण करने से ब्राह्मण बन जाता है और ब्राह्मण कुलोत्पन्न व्यक्ति भी इनके अभाव में शूद्र हो जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य आदि में भी गुणकर्मानुसार वर्ण परिवर्तन हो सकता है।

जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व म्लेच्छ नहीं है, यह सब भेद केवल गुणकर्मानुसार होता है।

ब्राह्मण कुल में जन्म, जातकर्मादि संस्कार तथा केवल वेदाध्ययन भी ब्राह्मण बनाने के लिये पर्याप्त नहीं है। ब्राह्मणोचित सदाचारादि उसके लिये अनिवार्य है।

जहां इस प्रकार ब्रह्म का ज्ञान, सदाचारादि पाया जाय वह शूद्रकुलोत्पन्न भी ब्राह्मण ही बन जाता है।

विस्तारभय से हम इस विषय में अधिक प्रमाणों को यहां देने में असमर्थ हैं। इस शास्त्रीय वर्ण व्यवस्था में जन्मगत उच्च नीच वा घृणा की कोई भावना नहीं है प्रत्युत पूर्ण प्रेम और सहयोग की भावना है। शरीर के सब अङ्ग मिलकर जैसे कार्य करते हैं और उनमें पूर्ण सहयोग न हो तो कभी शरीर का कार्य नहीं चल सकता वैसे ही समाज में ब्राह्मण क्षत्रिय आदि का परस्पर प्रेम और सहयोग होना चाहिये यह वैदिक आदेश हैं इसी लिये वेद के शब्दों में यह प्रार्थना की जाती है कि:—

प्रियं मा कृणु देवेषु, प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उतशूद्र उतार्ये॥

अर्थात् सत्यनिष्ठ ज्ञानी (ब्राह्मण), क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब का मुझे प्रिय बनाओ। सब के साथ प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते हुए ही हम उन सब के प्रेम-पात्र बन सकते हैं न कि जात्यभिमान से अन्यों को तुच्छ वा घृणित मानते हुए। इस वर्णव्यस्था के द्वारा व्यक्तिवाद और समष्टिवाद का पूर्ण समन्वय हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता है कि वह अपनी योग्यता और शक्ति को खूब विकसित करे पर

उसे अपनी इस श क्त को समाज की सेवा और उन्नति में लगाना चाहिये। संसार के अधिकतर कलहों उपद्रवों का एक प्रधान कारण धनपतियों की अनुचित प्रधानता और पूजा है। धन और सन्मान एक स्थान पर एकत्रित होने से अशान्ति का कारण बन रहे हैं। क्योंकि धनपति अपने धन के प्रभाव से बड़े-बड़े विद्वानों का भी मुख बन्द कर देते हैं किन्तु वर्णव्यवस्था की भावना को रखते हुए ऐसा नहीं हा सकता। वर्णव्यवस्था के अनुसार समाज में मस्तिष्क वा सच्चे नेतृत्व का काम ब्राह्मण कर सकते हैं पर वे त्यागी, तपस्वी, निःस्वार्थ व्यक्ति होते हैं अतः वे निर्भय होकर सत्य का प्रचार कर सकते हैं। बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं और सम्राटों से भी उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं हो सकता। धनपति वैश्यों को धर्म-युक्त साधनों से धन कमाने की स्वतन्त्रता है किन्तु उन्हें ब्राह्मणों के समान मान प्राप्त नहीं हो सकता। क्षत्रिय भी जो समाज और राष्ट्र की रक्षा करते हैं अपने पास अधिक धन संग्रह नहीं कर सकते। श्रम-विभाग वा (Division of labour) के वैज्ञानिक सिद्धान्त पर शास्त्रीय वर्णव्यवस्था का आधार है। समानता (Equality) स्वतन्त्रता (Liberty) और बन्धुता (Fraternity) के उच्च तत्त्व अपने शुद्ध रूप में वर्ण-

व्यवस्था में विद्यमान हैं किन्तु ऐसे रूप में नहीं जो शिक्षित, अशिक्षित सब को ठोक पीट कर बराबर करने के वा कृत्रिम समानता स्थापित करने के प्रयत्न में वैयक्तिक उत्साह में ही बाधक बन जाए। शिक्षक, योद्धा, व्यापारी तथा सेवक यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के शास्त्रोक्त आदर्शों को अपने सन्मुख रख कर कार्य करें तो जहाँ उन का अपना जीवन उच्च बन सकता है वहां वे समाज और राष्ट्र की सेवा में भी अधिक समर्थ हो सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

: ८ :

जाति-भेद प्रथा के राष्ट्र-घातक भयंकर परिणाम

इस निबन्ध में मैं यह दिखाना चाहता हूँ कि जाति-भेद की इस अवैदिक और अशास्त्रीय प्रथा का जैसे कि वर्णव्यवस्था-विषयक निबन्ध में दिखाया जा चुका है राष्ट्रीय दृष्टि से भी कितना भयंकर परिणाम हुआ है। इस प्रथा ने जो संकुचित मनोवृत्ति उत्पन्न कर दी वह हिन्दुओं के लिये कितनी घातिका सिद्ध हुई और आर्य राष्ट्र बनने के कितने ही स्वर्णीय अवसर हमने खो दिये जिनका कुपरिणाम हम आज भी पाकिस्तान के रोमाञ्चकारी अमानुषिक उपद्रव और काश्मीर की समस्या के रूप में भोग रहे हैं। यह सुप्रसिद्ध बात है कि अकबर का इस्लाम के सिद्धान्तों से विश्वास उठ चुका था और आर्य-धर्म की अनेक उत्तम बातों से वह बड़ा प्रभावित था। उसने अपने राज्य में गोबध सर्वथा बन्द करा दिया था। संस्कृत के विद्वानों का भी वह बड़ा मान करता था, तथा

महाभारत अथर्ववेद आदि के अनुवाद भी उसने उस समय के विद्वानों से करवाने का यत्न किया था। उसने अपने मन्त्री बीरबल से (जिसे संसार के सब से बड़े बुद्धिमानों में माना जाता है) विधिपूर्वक आर्य-धर्म में दीक्षित होने की इच्छा प्रकट की जिस पर बीरबल ने एक सप्ताह का समय विचार के लिये मांगा। अकबर यह जानने को उत्सुक था कि बीरबल इस विषय में क्या निश्चय कर रहा है। वह टहलते २ एक दिन यमुना तट पर गया तो देखा बीरबल एक गधे को साबुन मल २ कर स्नान करा रहा है। अकबर ने पूछा बीरबल यह क्या कर रहे हो? बीरबल ने उत्तर दिया कि मैं इस गधे को घोड़ा बनाने का यत्न कर रहा हूँ। अकबर ने कहा कि क्या तुम पागल हो गये हो? क्या गधा भी कभी घोड़ा बन सकता है? तब बीरबल ने कहा कि महाराज! यदि गधा घोड़ा नहीं बन सकता तो एक मुसलमान कुल में उत्पन्न व्यक्ति कैसे हिन्दू बन सकता है? बीरबल के इस मूर्खतापूर्ण उत्तर ने जो निस्सन्देह जाति-भेद-जन्य संकुचित मनोवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम था आर्य-राज्य बनने में बाधा उपस्थित कर दी। यदि बीरबल में 'कृणवन्तो विश्वमार्यम्' की वैदिक उदार भावना होती तो वह सम्राट् अकबर को आर्य-धर्म में सहर्ष दीक्षित कर देता और यहां आर्य-राष्ट्र

की स्थापना हो जाती। पर जाति-भेद की उपज संकुचित मनोवृत्ति के कारण यह स्वर्णीय अवसर हमने खो दिया।

अकबर के परपोते दारा शिकोह (औरंगज़ेब के भाई) के विषय में यह सब जानते हैं कि वह वेदों और उपनिषदों का न केवल अद्भुत प्रेमी था, न केवल उसने उपनिषदों का अनुवाद स्वयं फारसी में किया बल्कि वह वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानता था। वह संस्कृत का अच्छा विद्वान् था, यहां तक कि उसने संस्कृत में धर्म समन्वय पर एक उत्तम ग्रन्थ भी लिखा था ऐसा अनुसन्धान करने पर ज्ञात हुआ है। उसके सिर को काट कर जब मतान्ध औरंगज़ेब ने बाज़ारों में लटकाया तो उस पर एक बड़ा आरोप ही यह लगाया गया था कि वह काफ़िर है। यह सुप्रसिद्ध है कि वह आर्य धर्म में दीक्षित होना चाहता था किन्तु उस समय के पंडितों ने ऐसा करना स्वीकार नहीं किया और न उसकी सहायता राज्य प्राप्ति में की गई, जिसका शाहजहां का ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण वह अधिकारी था। यदि उस समय उसे आर्य धर्म में दीक्षित कर लिया जाता और उसकी सहायता की जाती तो आर्य-राष्ट्र की स्थापना हो जाती, किन्तु अपनी मूर्खता से हमारे पूर्वजों ने यह स्वर्णीय अवसर भी खो दिया।

आज हमारे सामने काश्मीर की समस्या बड़े भयङ्कर रूप में विद्यमान है जिसका सुरक्षा परिषत् आदि द्वारा समाधान असम्भव प्रतीत होता है। पर क्या कभी पाठकों ने विचार किया कि काश्मीर में मुसलमानों की लगभग ९० प्रतिशतक जनसंख्या कैसे हो गई? आइये आज इसका भी हम ज़रा पता लगाएं और अपनी मूर्खता पर आँसू बहाकर उसका प्रायश्चित्त करने का यत्न करें।

तेरहवीं शताब्दी की बात है। रतनजू नामक एक छोटी अवस्था का लड़का काश्मीर में आया। किसी प्रकार राजा सहदेव की राज-सभा में उसका प्रवेश हो गया और वह एक ऊंचे पद पर पहुँच गया। उसका अपना कोई धर्म वा राष्ट्र न था। मौलाना मुहम्मद काजम मुरादाबादी अपने इतिहास में लिखते हैं कि रतनजू हिन्दू धर्म पर बड़ा प्रेम रखता था, वह उसे ग्रहण करना चाहता था। पर हिन्दू उसे अपने समाज में लेने को सहमत न थे। वह प्रतिदिन एक पण्डित से गीता की कथा सुना करता था। एक दिन रतनजू ने पण्डित से पूछा क्या मैं अपका धर्म ग्रहण नहीं कर सकता? पण्डित ने कहा—बिल्कुल नहीं। इस उत्तर से हताश होकर रतनजू ने निश्चय किया कि कल सवेरे जो भी व्यक्ति मुझे सब

से पहले दृष्टिगोचर होगा, मैं उसी का धर्म ग्रहण कर लूंगा। उसके इस निश्चय का ज्ञान बुलबुलशाह नामक एक मुसलमान फ़क़ीर को हो गया। दूसरे दिन सवेरे वह रतनजू के महल के नीचे पहुंचा। उसे देख, रतनजू उसके निकट पहुँचा और बोला:—

क्या आप मुझे अपने धर्म में ले सकते हैं? बुलबुल शाह ने उत्तर दिया:—

इस्लाम का द्वार मनुष्यमात्र के लिये खुला है। एक प्रमुख राज्याधिकारी मेरा धर्म-बन्धु बनना चाहता है। इससे बढ़कर प्रसन्नता की बात मेरे लिये क्या हो सकती है?

इस पर वह मुसलमान हो गया और उसने इस्लाम का खूब प्रचार किया। उसके पुत्र शाहमीर ने राज-सिंहासन पर अधिकार करके राजा सहदेव के पुत्र की रानी कोना को बलात् घर में डाल लिया। पर रानी ने पेट में छुरा भोंक कर आत्महत्या कर ली। कहते हैं, जिन काश्मीरी पण्डितों ने मुसलमान बनाने से इन्कार किया उनको रतनजू और शाहमीर ने बोरियों में बन्द करके झेलम नदी में डुबो दिया। श्रीनगर में जहां ये लोग डुबाये गये थे, वह स्थान अब तक भी 'वर मज़ारा' के नाम से प्रसिद्ध है।

(श्री सन्तराम जी कृत 'हमारा समाज' पृ १६८-१६९ से उद्धृत)

पाठकगण! इस उपर्युक्त ऐतिहासिक घटना पर विचार कीजिये तब आप को ज्ञात हो जायगा कि यह जातिभेद की प्रथा जो संकीर्ण मनोवृत्ति और अत्यन्त संकुचित भावना को उत्पन्न कर देती है कितनी राष्ट्र विघातिनी है। यदि हमारे पूर्वज उस समय रतनजू को अपने धर्म और समाज में मिला देते तो यह काश्मीर की समस्या भी विकट रूप में हमारे सन्मुख उपस्थित न होती। काश्मीर के मुसलमानों की शुद्धि के प्रयत्न में भी काश्मीर के भूतपूर्व महाराज रणवीरसिंह जी पण्डित मंडली की संकीर्ण हृदयता के कारण सफल न हो सके यह और भी दुःखप्रद बात है।

जिस पूर्वी पाकिस्तान (पूर्वी बंगाल) के खुलना बारीसाल आदि ज़िलों में हिन्दुओं पर भयङ्कर अमानुषिक अत्याचारों के रोमाञ्चकारी वृत्तान्त आते रहे हैं, जिनके परिणाम स्वरूप लाखों हिन्दू अपने घर बार छोड़ने पर विवश हुए। उसकी उत्पत्ति भी इसी जाति भेदभावजन्य संकीर्णता के ही द्वारा हुई। यह पाठक निम्नलिखित ऐतिहासिक घटना से जा श्री सावरकर जी द्वारा लिखित 'राष्ट्र मीमांसा' के १११ से ११६ पृष्ठों से

'हमारा समाज' में उद्धृत की गई है जान सकते हैं। घटना संक्षेप में इस प्रकार है : —

"ढाका (पूर्वी बंगाल) में एक लम्बा चौड़ा हृष्टपुष्ट ब्राह्मणकुमार नित्य ब्रह्मपुत्रा नदी में स्नान करने जाया करता था। उसका मार्ग ढाका के नवाब के महल के निकट से होकर जाता था। नवाब की इकलौती बेटी झरोखे में से उसे नित्य जाते देखती थी। उसका ब्राह्मण कुमार पर प्रेम हो गया। उसने अपने पिता से कहा। पिता ने उस लड़के को बुलाकर अपनी बेटी से विवाह करने के लिये कहा। पर ब्राह्मण कुमार ने एक मुसलमान युवती के साथ विवाह करने से इन्कार कर दिया। इस पर नवाब ने अपनी बेटी को हिन्दू हो जाने की अनुमति दे दी। पर रूढ़िवादी पण्डितों ने कहा कि किसी मुस्लिम को हिन्दू बनाने की आज्ञा शास्त्र में नहीं। तब नवाब ने उस नवयुवक को मुसलमान हो जाने को कहा पर उसने इन्कार कर दिया, इस पर क्रोध में आकर नवाब ने उसका वध कर डालने की आज्ञा दे दी। ब्राह्मणकुमार वधस्थल में गर्दन झुकाये खड़ा है। उसके मुण्ड को रुण्ड से अलग कर डालने के लिये बधिक की तलवार उठ चुकी है। इतने में नवाब की लड़की लड़खड़ाती हुई सामने आकर खड़ी हो जाती है। वह वधिक से कहती है—इसका नहीं

मेरा वध करो। मैं अपने प्रियतम के चरणों में बलिदान करूँगी।

यह देख ब्राह्मणकुमार का हृदय द्रवित हो जाता है। वह उसे हृदय से ग्रहण कर लेता है और विवाह करने के लिये सहमत हो जाता है। इस पर उसे छोड़ दिया जाता है।

युवक ने अपने पिता से और पण्डे-पुरोहितों से नवाब-नन्दिनी को हिन्दू बना लेने की प्रार्थना की। पर सब ने यह कहकर इन्कार कर दिया कि धर्मशास्त्र इसकी आज्ञा नहीं देता। तब यह युवक और युवती दोनों जगन्नाथ पुरी में पहुँचे। उन्होंने निश्चय किया कि अपने हृदयों की पवित्रता की साची देकर हम जगन्नाथ जी के चरणों में विवाह-बन्धन में बँध जाएंगे। पर पण्डों ने उन्हें जगन्नाथ के दर्शन न करने दिये। उन्होंने लातें और घूंसे मारकर दोनों को निकाल दिया। इस पर युवक में प्रतिहिंसा की आग भड़क उठी। वह मुसलमान बन गया और उसने सम्पूर्ण बंगाल को मुसलमान बना डालने का बीड़ा उठाया। इतिहास में वह 'काला पहाड़' के नाम से प्रसिद्ध है। ('हमारा समाज' पृ० १६७) ऐसी अन्य सैंकड़ों ऐतिहासिक घटनाओं को उद्धृत किया जा सकता है जिनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह जातिभेद की प्रथा

कितनी समाजघातिका और राष्ट्र-नाशिनी सिद्ध हुई है।

इसलिये भारत के न्याय-मन्त्री महोदय ने भारतीय संविधान-परिषद् में भारतीय विधान को प्रस्तुत करते हुए जातिभेद की प्रथा का निर्देश करते हुए ठीक ही कहा था कि "भ्रातृत्व के सिद्धान्त का हम तब तक कैसे पालन कर सकते हैं जब कि हमारा राष्ट्र हज़ारों जातियों में विभक्त है? हम जितनी जल्दी इस सचाई को समझ लें उतना ही अच्छा है। तभी हम अपना उद्देश्य पूर्ण करने के लिये प्रयत्न करेंगे। भारत की जातपांत अराष्ट्रीय है क्योंकि सभी जातियां एक दूसरे से द्वेष करती हैं। भ्रातृत्व के लिये जातपांत आदि की कुप्रथाओं को हमें अवश्य दूर करना चाहिये। दलितों को हमें जल्दी ही अधिकार देने चाहियें। कहीं ऐसा न हो कि दलित वर्ग संघर्ष की ओर प्रेरित हो जाए। जीवन के सभी क्षेत्रों में समानता और भ्रातृत्व का पालन करना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि स्वातन्त्र्य की प्राप्ति बहुत प्रसन्नता की बात है। किन्तु उसने हमारे ऊपर भारी उत्तरदायित्व भी डाल दिया है। यदि हम बहुत समय तक सामाजिक व आर्थिक असमानताओं को नष्ट नहीं करेंगे तो राजनैतिक प्रजातन्त्र व समानता को भी खतरे में डाल देंगे।

सभी विचारशील नर-नारियों का कर्तव्य है कि इन

बातों पर गम्भीरता से विचार कर आर्य जातिभेद की अशास्त्रीय तथा सामाजिक और राष्ट्रीय प्रत्येक दृष्टि से घातिका कुप्रथा का सर्वथा अन्त कर दें।

जहां आर्य नरनारियों को इस विषय की ओर ध्यान देना उचित और आर्य-धर्म तथा समाज के विस्तार की दृष्टि से आवश्यक है वहां आर्य कुमारों की उत्तरदायिता इस जाति-भेद विरोधी आन्दोलन को प्रबल बनाने के लिये और भी अधिक है। उन्हें तो इस वेदादिशास्त्र-विरुद्ध राष्ट्र-विघातक प्रथा का अन्त करने के लिये सर्वथा कटिबद्ध हो जाना चाहिये और इस व्रत को ग्रहण करना चाहिये कि जन्मगत जातपांत तोड़ कर केवल गुणकर्म-स्वभावानुसार ही विवाह करेंगे।

युगान्तर प्रेस, मोरी गेट, देहली।